संस्कृति का व्याकरण

वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर

संस्कृति का व्याकरण

नन्दकिशोर आचार्य



नन्दकिशोर आचार्य

प्रथम संस्करण 1988

मूल्य पचास रुपये मात्र

आवरण हरिपाल त्यागी

प्रकाशक वाग्देवी प्रकाशन
सुगन निवास चन्दन सागर
बीकानेर 334 001

मुद्रक साँखला प्रिंटर्स
चन्दन सागर बीकानेर

ISBN 81 85127 10 7

SAMSKRITI KA VYAKARANA by Nand Kishore Acharya
(*The Grammer of Culture—Philosohical Topics*) Rs 50 00

अनुक्रम

भूमिका

आधुनिकता स्वयसिद्धा की भांति आज हमारे चितन एव क्रिया प्रणाली दोनो को ही अभिभूत कर रही है। हमारी पुरातन धरती नयी आकाक्षाओ, नयी योजनाओ, नये आह्वानो के सतत आरोहित घोष से कम्पमान है। पता नही यह कम्पन नवसजन के उद्दीपन के कारण है या अज्ञात, शायद अकमनीय अस्पष्ट एव अनिश्चित भविष्य के आगमन की आशका से उद्विग्न है। कुछ भी हो परिवतन विवाद और मूलभूत परिवतन की आवश्यकता की घोषणा आये दिन होती ही रहती है। औद्योगीकरण और इसकी सहवर्ती प्रक्रिया आधुनिकता के निरतर बढते चरण जनजीवन म धीरे धीरे परन्तु अनिवाय रूप से परिवतन ला भी रहे हैं।

यह कहने की आवश्यकता नही कि परिवतन की आवश्यकता के पीछे भारतीय चितन परम्परा एव सामाजिक सरचना के प्रति गहरा असन्ताप और आक्षोभ परिलक्षित है। पिछली कुछ शताब्दियो म उपनिवेशवादी युग के शोषण और दमन की प्रतिक्रिया मे भारतीय चितन परम्परा और सामाजिक सरचना की असगतियाँ अनुभूत हुइ। यह माना गया कि भारतीय समाज के पिछडेपन का मुख्य कारण यह

है कि समाज म उन सभी तत्वा का अभाव है जा आर्थिक विकास का प्रोत्साहित करते और औद्योगीकरण का पथ प्रशस्त करते हैं और यह भी माना गया कि उद्याग धन्धा की बढोत्तरी के बिना न ता आर्थिक समृद्धि सम्भव है और न ही सबल राष्ट्र का गठन।

इसीलिए आज यान्त्रिकी समर्थित औद्योगीकरण की सहवर्ती प्रक्रिया आधुनिकीकरण पर इतना बल दिया जा रहा है। परन्तु आधुनिकता की खोज म यह भी निश्चित है कि आधुनिकता की सकल्पना म जो तत्व निहित है जिस जीवन दशन की झलक इसम मिलती है, और जो सस्थाएँ इसको अवलम्बन प्रदान करती है उनको भारतीय जीवन और सामाजिक सम्बन्धो मे चरितार्थ किया जाय। इसस शायद किसी को इनकार नही कि चिन्तन और कायप्रणाली दोना म ऐस परिवतन किये जायें जो व्यक्ति को सुदृढ बनात हैं और समाज को सबल। परन्तु अहम प्रश्न तो यह है कि कसा व्यक्ति और कसा समाज ?

इस सम्बन्ध म यह कहना आवश्यक है कि हम परिवतन की आवश्यकता का अनुभव करते है और यथा तथा इसकी प्रक्रिया को सुदृढ भी कर रहे हैं। परन्तु यह परिवतन हम और हमार समाज को कहाँ ले जायगा इस पर बहुत कम ही विचार किया जा रहा है। हम उदारवादी चिन्तन परम्परा की कुछ मूलभूत सकल्पनाआ की ओर इस तरह आकर्षित हो गये है कि हम न इन के सारतत्त्व पर विचार करना छोड दिया है। ऐसा लगता है कि हम एक विशेष मतवाद के जिस हम पाश्चात्य जीवन दशन का वाहक मान सकत हैं भीषण प्लावन म बह जा रह है और भविष्य के जो सपन है सजन सुख की अनुभूति है और गतिमान होन का जो स्वाद है उस म बहन म ही हम सुख मिलता है।

शायद यह बहुता के लिए सच हो। परन्तु कुछ ऐसे भी है जो इस जीवन दशन की चमक को सिफ बाहरी मुलम्मा मानत है। इसक पीछे व्यक्ति, और व्यक्ति के समाज और प्रकृति के साथ के सम्बन्धो की सकल्पनाओ का व गहराई स देखन परखन का प्रयास करत हैं और इन सकल्पनाआ के पीछे जो भ्रामक तक और अनुभव की विचारधारा है उस का पर्दाफाश कर लोगा की चेतना का जाग्रत करत है। श्री नरसिंहार आचाय एस ही एक बौद्धिक है जिन्होन इस सम्बन्ध मे

काफी मनन और अनुशीलन किया है। मानव सस्कृति, स्वतन्त्रता, व्यवस्था, यान्त्रिकी आदि मूलभूत सकल्पनाओ का उन्होंने विश्लेषण किया है और इन का उचित अर्थ खोजन का प्रयास किया है।

इस प्रयास का एक विशेष पक्ष यह है कि श्री आचाय इन सकल्पनाओ के शाब्दिक अर्थ से अधिक महत्त्व तात्त्विक अर्थ को देते हैं और सुस्पष्ट एव सरल शली म इस की विवेचना करते हैं। इसलिए इन के सारे निबन्ध सारगर्भित और विचारोत्तेजक हैं। इस अनुवर्तिता के युग मे लीक से अलग थलग होकर मौलिक रूप से विचार मथन की प्रक्रिया को आरम्भ करना एक साहस की बात है। यह हर्ष की बात है कि श्री आचाय म साहस का अभाव नही है। साथ ही, इन की विशेषता यह है कि साहस, विवेक और ज्ञान, तीनो का सम्मिश्रण इन निबन्धो मे प्रचुर मात्रा म मिलता है। आशा है यह पुस्तक पाठको की जिज्ञासा तो शान्त करेगी ही, उन्हे सोचने को भी बाध्य करेगी।

—रामाश्रयराय

सेंटर फॉर दि स्टडी ऑफ
डेवलपिंग सोसाइटीज,
दिल्ली—110054

प विद्यानिवास मिश्र
को
निवेदित

मनुष्य होने का अर्थ

किसी समय, जब जीवन धर्म या शास्त्र द्वारा ही मुख्यत निर्देशित रहता था, यह मानकर चला जाता था कि मनुष्य का आचरण नैतिकता की कसौटी पर खरा उतरना चाहिए क्योंकि धार्मिक होने में नैतिक होना अंतर्निहित था और धर्म पूरे जीवन की केन्द्रीय धुरी माना जाता था। इसलिए यह सवाल तो फिर भी उठाया जा सकता था, उठाया जाता भी था कि किस तरह के आचरण को वास्तव मे नैतिक आचरण कहा जा सकता है और उसके उत्तर कभी कभी अलग भी होते थे और शायद इसीलिए फिर यह मान लिया जाता था कि देश काल परिस्थितियों के अनुसार नैतिकता के स्वरूप मे परिवर्तन होते रहते है, कि नैतिकता समाजगत है अत विभिन्न समाजो म नैतिक आचरण की कसौटी भिन्न हो सकती है और इसीलिए यह भी हो सकता है कि एक समाज मे जिस आचरण को अनुचित समझा जाय दूसरे समाज मे उसी को उचित मान लिया जाय। लेकिन यह प्रश्न नैतिकता की धारणा को लेकर ही हो सकता था। यह सवाल नही उठाया जाता था कि मनुष्य नैतिक आचरण करे ही क्यो और इसका कारण शायद यह था कि नैतिक हुए बिना वास्तविक अर्थों मे धार्मिक होना सम्भव नही था।

इसीलिए आधुनिक समझे जाने वाले समाजो म नैतिकता की चर्चा को यदि एक सनक माना जाता है तो उसके पीछे एक मूल कारण यह भी है कि धार्मिक होना मनुष्य के लिए आवश्यक नही समझा जा रहा है। इसीलिए अब मूल सवाल यह नही रह गया है कि किस तरह के आचरण को नैतिक कहा जाय बल्कि असली प्रश्न यह है कि मनुष्य नैतिक हो ही क्यो? मनुष्य के लिए नैतिक आचरण की अनिवार्यता क्यो हो? बहुत से लोगो की राय म मनुष्य के आचरण के सन्दर्भ म नैतिकता की बात उठाना ही अवैज्ञानिक है क्योंकि उनकी राय म धर्म का स्थान अब विज्ञान लेता जा रहा ह और विज्ञान नीति निरपेक्ष है। इस वर्ग के अनुसार मनुष्य के आचरण का मूल प्रेरक तत्त्व उसकी जैविक अधिक से अधिक उसकी मनोवैज्ञानिक वृत्तियाँ होती हैं। इन वृत्तियो के स्वरूप निर्धारण मे मनुष्य के अपने स्वतन्त्र और सचेत निर्णय का महत्त्व बुनियादी नही है अत उसके आचरण की नैतिक परख का

भी कोई बुनियादी महत्त्व नही है क्योंकि नैतिक होना उसकी बुनियादी आवश्यकता नही है। एक वर्ग और है जो यह मानता है कि मानवीय आचरण विभिन्न सामाजिक आर्थिक शक्तियों के आपसी संघर्ष का एक ऐसा प्रतिफलन है जिसमे नैतिकता या मूल्यबोध का कोई अनिवार्य स्थान नही है। इन लोगो का तर्क भी कुल मिला कर नैतिकता को एक हठे स्थान पर रखता है क्योंकि यदि सामाजिक आर्थिक शक्तियों के संघर्ष की वजह से कोई व्यक्ति नैतिक आचरण नही करता है तो इसका दोषी वह नही है—बल्कि उससे नैतिक होने की माग करने के औचित्य को ही सही नही माना जा सकता। इन दोनो ही वर्गों के तर्कों का अलग अलग खण्डन किया जा सकता है लेकिन आगे जो कुछ कहा जा रहा है उसके बाद शायद इस तरह के खण्डन की फिलहाल कोई आवश्यकता नही रहेगी।

एक वर्ग ऐसे लोगो का है जो यह मानते है कि धार्मिक न रहते हुए तथा जविक मनोवैज्ञानिक वृत्तियो या सामाजिक आर्थिक परिस्थितियो की विवशता के बावजूद मनुष्य को नैतिक होना चाहिए। इनका तर्क यह है कि मनुष्य बुनियादी रूप से एक सामाजिक प्राणी है उसे सदस्य एक समाज म रहना है अत समाज के दूसरे सदस्यो के साथ उसका व्यवहार किस प्रकार का हो इसका स्पष्ट निर्धारण हो जाना चाहिए ताकि उसके और समाज की दूसरी इकाइयो के बीच एक सामजस्य बना रहे। ऐसे लोगो की राय म इस प्रकार निर्धारित व्यवहार का अच्छी तरह पालन ही नैतिकता है। इसलिए कुछ लोग कानूनसम्मत जीवनयापन को भी एक नैतिकतापूर्ण जीवन मान सकते हैं। इस तर्क की गहराई म जाकर देखा जाय तो लगेगा कि नैतिकता एक काम चलाऊ व्यवस्था हो जाती है। इसके अनुसार नैतिक होना मनुष्य की मजबूरी हो जाती है—स्पष्ट है कि ऐसी हालत म नैतिक आचरण एक ऐसा आचरण हो जाता है जिसे करना पड़ता है वह मनुष्य का सहज स्वभाव नही रहता। यदि उसके बिना काम चल सकता हो—जो कि बहुत स लोगो का चल सकता है—तो नैतिक होने की माग का वास्तविक औचित्य तभी हो सकता है जब ऐसा होना मनुष्य के अस्तित्व की एक आधारभूत शर्त हो।

दरअसल मनुष्य नैतिक इसलिए नही होता है कि वह सामाजिक या समाज म रहने को विवश है और समाज की व्यवस्था को मानने के लिए विवश है बल्कि इसलिए कि नैतिक होने म ही उसका मनुष्य होना या मानवत्व की सिद्धि सम्भव है—दूसरे शब्दों म नैतिक हुए बिना सही अर्थों म उसका मनुष्य होना ही सम्भव नही है। यहाँ यह ध्यान रखना जरूरी है कि इसके लिए उसका धार्मिक होना या शास्त्रसम्मत या विधिसम्मत आचरण करना

अनिवाय नहीं है–बल्कि इस तरह भी कह सकते हैं कि धार्मिक हुए बिना भी नतिक होना तो सम्भव है किन्तु नैतिक हुए विना धार्मिक होना तो क्या मनुष्य होना ही सम्भव नहीं लगता। इसलिए मनुष्य इसलिए नतिक नहीं है कि नतिकता कोई सामाजिक मजबूरी है बल्कि वह इसलिए नैतिक है कि नतिकता उसके अस्तित्व का बुनियादी धम है जसे कुछ जविक वृत्तिया उसका जविक धम होती है।

इस प्रकार बात मनुष्यत्व की अपनी अवधारणा पर जा कर ठहर जाती है–अलग अलग दृष्टिकोणो से इसका अलग अलग उत्तर दिया जा सकता है। लेकिन इतना सभी स्वीकार करते हैं कि वह अय जीव या प्राणीजगत् से बुनियादी अथ मे अलग है। यह अलगाव किस बात मे है ? मनुष्य की स्वतन्त्र चेतना और सृजनशीलता ऐसे तत्त्व है जो उस अय प्राणियो से अलग करते है। स्वतन्त्रचेता होने का तात्पय ही उत्तरदायी होना है–किसी बाह्य सत्ता के प्रति नही बल्कि अपने, अपनी चेतना के प्रति उत्तरदायी। इन दो गुणा के विकास म ही मानव के भावी विकास की सम्भावनाए निहित है। यदि मनुष्य के रूप मे किसी के आचरण म इन गुणा का प्रतिबिम्ब नही दिखाई दता है तो यही मानना होगा कि सिफ जविक पहचान के रूप म ही उस मनुष्य कहा जा सकता है–लेकिन तब मनुष्य और अय जीवो का यह फक उसी प्रकार का होगा जिस प्रकार का फक हम दो भिन्न जातियो के जीवो मे करत है। मनुष्य ऐसी स्थिति मे अय जीवा से बुनियादी अर्थों म भिन्न नही हो सकेगा।

इस प्रकार मानवीय आचरण का औचित्य उसकी स्वतन्त्र चेतना से उद्भूत उत्तरदायी और सृजनशील आचरण मे है–यही नतिकता है जिसका उत्स मनुष्य स्वय है–जीवित यथाथ इकाई मनुष्य। सृजनशीलता कोई कला या साहित्य मे ही अभिव्यक्त होने वाला गुण नही है–यह मनुष्य के दनन्दिन आचरण मे प्रकट होने की अपेक्षा रखता है। अपने साथ और अपने से इतर सब कुछ के साथ–इस सब कुछ म केवल मानवीय समाज ही नही सम्पूण प्राणी जगत् वनस्पति जगत् और जिसे जड जगत् कहा जाता है वह भी सम्मिलित है–एक सृजनात्मक रिश्ता मानवीय आचरण की नतिक कसौटी है। सृजनात्मकता मनुष्य का स्वयम्भू गुण है उसकी प्रकृति है। स्वतन्त्रचेतना इस सृजनात्मकता के गुण म अन्तर्निहित है। इसलिए मनुष्य की सृजनात्मकता को जिस हद तक पुष्ट और विकसित किया जा सकता है उसी हद तक हम मनुष्यत्व की सिद्धि करत रहते हैं। जविक स्तर पर मनुष्यत्व स्वय प्राप्य है लेकिन उसके बाद के मनुष्यत्व को अर्जित करना होता है–इस अजन की सारी सम्भावनाएँ मनुष्य

मे ही है। जिम सीमा तक कोई यह अजन कर पाता है वास्तविक अर्थों मे उसी सीमा तक वह मनुष्य हो पाता है। इस सृजनात्मकता को कुण्ठित करने वाली प्रवृत्तियो और शक्तियो को ही हम वास्तविक अर्थो म अमानवीय कह सकते है और इसलिए इस तरह की अमानवीयता के खिलाफ सघष भी मनुष्य होन की बुनियादी शत बन गयी है। इसीलिए मनुष्य के मनुष्य बने रहने के लिए यह आवश्यक है कि उसका आचरण उत्तरदायी हो, सजनशील हो और विभिन्न स्तरो पर अमानवीयता का विरोधी हो—यही नतिकता है और इसलिए मनुष्य अनिवायत नतिक है क्योकि उसके बिना उसके मनुष्यत्व का कोई अथ नही है।

मनुष्य और जीवन

मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है, मनुष्य सब चीजों का मापदण्ड है, मनुष्य ही एक मात्र सत्य है—इस तरह की बातें हर विचारधारा को मानने वाले लोगों से अक्सर सुनने को मिल जाती हैं। वैज्ञानिक मनुष्य को जीवों में सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। दार्शनिक उसमें चेतना की चरम अभिव्यक्ति खोजते हैं और सृष्टि का केन्द्रीय स्थान उसी को देते हैं—यहाँ तक कि मनुष्य की चेतना को एक यान्त्रिक प्रक्रिया के रूप में देखने और मनुष्य की नियति को यान्त्रिक स्तर पर नियन्त्रित कर सकने की आशा करने वाले लोग भी अपने प्रयत्नों का प्रयोजन मनुष्य का कल्याण ही मानते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था की कसौटी यही है कि उसके अन्तर्गत मनुष्य के बहुआयामी विकास को किस सीमा तक एक उचित वातावरण और सुविधाएँ मिलती हैं। जो व्यवस्था मनुष्य के विकास की सम्भावनाओं को मानसिक आध्यात्मिक अथवा सामाजिक आर्थिक किसी भी स्तर पर रोकती है, उसे हम उचित व्यवस्था नहीं कह सकते। इसी प्रकार यह स्वीकार करने में भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि मनुष्य जैविक विकास का सर्वश्रेष्ठ स्तर है, कि उसमें जीवन और चेतना की अद्यतन सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति हुई है और भविष्य में इसके और गुणात्मक विकास की अपेक्षा भी उसी से की जा सकती है। इसलिए यह मान लेने में कोई एतिराज नहीं हो सकता कि वह अन्य जीवों से श्रेष्ठ है।

तब फिर समस्या क्या है? इस सवाल पर यहाँ पर विचार करने की आवश्यकता ही क्या है—बल्कि फिर सवाल ही कहाँ बच रहता है? लेकिन सवाल उठता है और बड़ा महत्त्वपूर्ण सवाल उठता है। सवाल यह उठता है कि जब हम मनुष्य को सब जीवों से श्रेष्ठ मान लेते हैं या उसे ही किसी व्यवस्था की कसौटी मान लेते हैं तब हमारे इस कथन या मान्यता का यथार्थ क्या होता है। क्या हमारा तात्पर्य यह होता है कि मनुष्य अन्य जीवों से अधिक समर्थ, सचेत और श्रेष्ठ है अतः शेष जीवन और जगत् के संरक्षण और सम्पोषण का दायित्व उसका है अथवा यह कि वही सबसे श्रेष्ठ है इसलिए अन्य सब कुछ उसके अबाध उपयोग के लिए है जिसे वह

आचरण की कसौटी उपर्युक्त मान्यता है तब तो अधिक विकसित चेतना और जीवन शक्ति वाले मनुष्यों, समाजों या राष्ट्रों का यह सर्वमान्य अधिकार होना चाहिए कि वे अपने से कमजोर और हीनतर मनुष्यों, समाजों या राष्ट्रों का उपयोग अपने लिए कर सकें। क्या हम ऐसा मानने के लिए सहमत हैं?

कुछ लोग हैं जो इस तर्क की टाँग खींचना चाह सकते हैं। उनकी आपत्ति यही होती है कि मनुष्य का मनुष्य के प्रति व्यवहार और मनुष्य का मनुष्येतर जीवन के प्रति व्यवहार दो अलग बात हैं और उनके लिए एक ही कसौटी नहीं बनायी जा सकती। मनुष्य और पशु में फर्क है, अतः मनुष्य और पशु के प्रति किये जा रहे आचरण में फर्क होना स्वाभाविक और संगत है। यदि हम इस तर्क को मान लेते हैं तो उससे भी क्या यही ध्वनित नहीं होता कि मनुष्य और पशु द्वारा किये जा रहे आचरण में भी फर्क होना चाहिए। मनुष्य किसके प्रति आचरण कर रहा है, इससे पहले यह बात समझ लेना आवश्यक है कि आचरण करने वाला मनुष्य है—जो चेतनासम्पन्न मूल्यस्रष्टा उत्तरदायी प्राणी है—इसलिए उसके आचरण में हर स्तर पर मानवत्व प्रतिबिम्बित होना अधिक संगत और सार्थक है। ऐसा नहीं है कि वह मनुष्यों के बीच ही मनुष्य रहता है और जड़ प्रकृति के बीच जाने पर जड़ तथा पशुओं के बीच जाते ही पशु हो जाता है। ऐसी स्थिति में उसके लिए जहाँ यह जरूरी है कि मनुष्य और मनुष्येतर जीवन के साथ आचरण करते हुए वह इन दोनों के फर्क को समझे और तदनुकूल आचरण करे, वहीं यह भी उतना ही बल्कि शायद ज्यादा आवश्यक है कि वह इस तथ्य को न भूले कि उसके आचरण में वह मूल्यबोध और चेतना प्रतिबिम्बित होनी चाहिए जो उसे मनुष्य बनाती है।

कुछ लोग समझ सकते हैं कि मैं जीवदया जैसी किसी धार्मिक या मानवतावादी भावना अथवा पारिस्थितिक सन्तुलन और पर्यावरण की शुद्धता के लिए चलाये जा रहे आन्दोलनों के समर्थन में इतना सब तर्क जाल फैला रहा हूँ। इन दोनों को मैं गलत तो नहीं मानता पर मेरा आग्रह उन पर एक अलग दृष्टि से विचार करने का है। जब हम जीवदया की बात करते हैं तब अपने को एक दाता के भाव से गरिमामंडित कर लेते हैं—उसमें यह भावना नहीं रहती कि हम पर जीवों या मनुष्येतर जीवन का कोई अधिकार है बल्कि यह भावना अधिक प्रबल हो जाती है कि हम उनसे श्रेष्ठ हैं। तब यह तर्क कुछ भ्रामक हो जाता है क्योंकि इसमें जीवन मात्र के प्रति कृतज्ञता का भाव नहीं रहता। मनुष्य जीवन की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति है, अतः जीवन मात्र से जुड़ना उसका संरक्षण और संवर्धन उसके मनुष्य होने की अनिवार्य नैतिक और भावात्मक शर्त है। जब मनुष्येतर जीवन के साथ मनुष्य का रिश्ता

अस्तित्वगत स्तर पर अनुभव किया जाता है तभी वह वास्तविक अर्थों में मानवत्व का अर्जन करने वाला आचरण हो पाता है।

पर्यावरण और पारिस्थितिक सन्तुलन के लिए चलाये जा रहे आन्दोलनों के पीछे भी अभी तक केन्द्रीय दृष्टि मनुष्य के लिए उनकी उपयोगिता है। यह महसूस किया जा रहा है कि अभी तक जिस तरह से प्रकृति का दोहन किया जाता रहा है यदि उसी गति और पद्धति से यह प्रक्रिया जारी रही तो मानव जाति के लिए उसके परिणाम बड़े भयंकर होंगे। इसलिए वास्तविक चिन्ता यहां भी मनुष्य की ही है। मनुष्य की चिन्ता करना आवश्यक है लेकिन जीवन की चिन्ता करना भी उतना ही आवश्यक है क्योंकि मनुष्य जीवन की ही सर्वश्रेष्ठ और उत्तरदायी अभिव्यक्ति है। जिस तरह समाज में मनुष्य का केन्द्रीय महत्त्व है उसी तरह पूरे ब्रह्माण्ड में जीवन का केन्द्रीय महत्त्व है। अतः मनुष्येतर जीवन के प्रति मनुष्य का रवैया उपयोगितावादी ही नहीं हो सकता—उसके आचरण में जीवन मात्र के प्रति लगाव और कृतज्ञता के उसी बोध की झलक संगत और स्वाभाविक है जो मनुष्य के प्रति उसके आचरण में दिखायी देनी चाहिए।

एक उदाहरण से बात सम्भवतः अधिक स्पष्ट हो सकेगी। आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में कुछ ऐसे मन्त्रों का उल्लेख मिलता है जिन्हें वानस्पतिक औषधियों या पौधों से तोड़ने से पूर्व पढ़ा जाता था। इन मन्त्रों में औषधि में देवता का वास मानते हुए इस बात के प्रति क्षमा मांगी जाती तथा कृतज्ञता ज्ञापित की जाती थी कि मनुष्य अपने लिए उनका उपयोग कर रहा है। इसी प्रकार बहुत से भारतीय परिवारों—विशेषतया ग्रामीण परिवारों में भोजन से पूर्व परोसे गये भोजन को प्रणाम करने या उसके लिए निश्चित मन्त्रों को पढ़ने की परम्परा देखी जा सकती है। सभी प्रकार के कार्यों के लिए जीवन के विभिन्न रूपों में देवता का वास मानते हुए उनके प्रति इसी प्रकार के कृतज्ञतापूर्ण मन्त्रों की रचना की गयी थी। मेरा यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि आज हम भी प्रत्येक कार्य से पूर्व उन या उसी तरह के मन्त्रों का उच्चारण करें। वह तो एक रूढ़ि है और मन्त्रों का उच्चारण करते हुए भी हमारा व्यवहार उसी प्रकार गैर-जिम्मेदार और अमानवीय हो सकता है जिस प्रकार बड़े बड़े आदर्शों की बातें करने के बावजूद सामाजिक आर्थिक जीवन में होता जा रहा है। असली बात यह है कि हम यह पहचानें कि यह देवता वास्तव में यह समग्र अस्तित्व ही है। उसके प्रति अस्तित्वगत लगाव कृतज्ञता तथा उत्तरदायित्व की भावना और तदनुकूल आचरण में ही हमारे मानवत्व की सिद्धि और सार्थकता है।

चेतना की दिशा . अहिंसा

जब हम कहते है कि मनुष्य विकास प्रक्रिया का एक स्तर है तब उसका एक मानी यह भी होता है कि वह विकासशील चेतना है क्योंकि चेतना जीवन का ही गुणोत्कर्ष है और इसलिए जीवन की विकास प्रक्रिया का एक अर्थ चेतना का विकास हो जाता है—खास तौर पर मनुष्य के सन्दर्भ में। आत्मरक्षा जीवन की सहज प्रवृत्ति है लेकिन चेतना का विकास होने पर आत्म का दायरा विस्तृत होता जाता है। क्योंकि अपने और शेष जीवन के बीच एक तात्त्विक ऐक्य का भाव विकसित हो जाता है। सन्तान, परिवार, जाति, धर्म वर्ग, राष्ट्र आदि इसी आत्म के विस्तार के दायरे है। और दायरे है इसलिए इनके द्वारा होन वाली आत्म की पहचान और इनके माध्यम से सम्पूर्ण जीवन से जुड़ने की एक सीमा है जिसे न समझ सकने पर आत्म का विस्तार और उसकी पहचान बाधित होती है। तब यह न केवल निर्दोष सत्य नही हो सकती बल्कि कई बार उसी को अन्तिम मान लेने पर एक आत्मप्रवंचना भी हो जाती है और इस प्रकार जीवन और चेतना के विकास मे बाधक भी हो जाती है। नस्लवाद, राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद आदि के कारण इतिहास मे जो कुछ अमानवीय घटित होता है वह इसी दृष्टिभ्रम का परिणाम है। यह दृष्टिभ्रम जब मनुष्य के भीतर छिपे पशु के साथ मिल जाता है तो इतिहास के मंच पर हिंसाकाण्ड घटित होने लगता है जो अनिवार्यरूपेण विनाशकारी और इसलिए विकास विरोधी है।

पशु में हिंसा इसलिए है कि वह शेष जीवन के साथ उस तरह के अस्तित्वगत ऐक्य का अनुभव नही कर सकता जो कि मनुष्य कर सकता है। इसलिए हिंसा की वृत्ति को पाशविक वृत्ति कहा गया है। जो लोग मानव जीवन में हिंसा के अनिवार्य प्रयोग पर बल देते है वे भी यह तो मानते हैं कि यह एक पाशविक वृत्ति है लेकिन उनकी राय मे इसके बिना काम चल नही सकता है। क्रान्ति के प्रसंग मे जब हिंसा के औचित्य पर बात की जाती है तब भी यही कहा जाता है कि साध्य के आधार पर साधन की पवित्रता को आँकना चाहिये। इसी में क्या यह भाव नही निहित है कि हिंसा है तो अनुचित पर यदि किसी अच्छे उद्देश्य के लिये उसका उपयोग करना पड़े तो वैसा किया जा

सकता है ? इसका सीधा मतलब यही होता है कि हिंसा अपने आप म कोई अच्छी प्रवृत्ति नही होती यद्यपि कभी आवश्यकता पडने पर उसका उपयाग किसी अच्छे उद्देश्य के लिए भी किया जा सकता ह।

इससे भी यह ता तय हा ही जाता है कि हिंसा की प्रवृत्ति अपने आप म एक अमानवीय प्रवृत्ति है जो जीवन और चेतना की विरोधी बल्कि उनके विनाश की आर उन्मुख प्रवृत्ति है और यदि कभी हिंसा को स्वीकार किया भी जाता है तो एक प्रवृत्ति के रूप म नही बल्कि किसी हिंसा का ही विराध करने के अन्तिम अस्त्र के रूप म—यद्यपि इस पर विचार की गुजाइश फिर भी बनी रहती ह कि किस स्थिति मे हम इस अस्त्र का उपयाग करें। कुछ लोग ता फिर भी यह आपत्ति उठा सकते है कि किसी भी स्थिति में इसका उपयाग उचित नही कहा जा सकता—लेकिन इन सवाला पर बहस को फिर कभी के लिये छाड कर पहले हम मूल बात पर विचार करें।

हिंसा अमानवीय और जीवन तथा चेतना की विराधी प्रवृत्ति ह इसी से यह स्वयमेव सिद्ध हा जाता है कि मूलत अहिंसा एक ऐसी मानवीय प्रवृत्ति है जो न केवल मनुष्य को पाशविकता के स्तर से ऊपर उठाती है बल्कि उस पूरे जीवन के साथ अस्तित्वगत ऐक्य का अनुभव करवाती हे। यही भाव अहिंसा का मूल भाव है और चेतना के विकास का मतलब इस मूल भाव का गुणात्मक हाते जाना हे। इसलिये अहिंसा कोई निषेधात्मक विचार नही बल्कि यह मनुष्य हान की मूल शर्त है। जो लाग यह कहते है कि हिंसा मनुष्य के स्वभाव मे है वे यह भूल जाते हैं कि मनुष्य अभी भी विकास की प्रक्रिया का एक स्तर है और आग का विकास हिंसा पर नही अहिंसा के भाव पर आधारित है। मनुष्य नाम का जीव जितना अधिक अहिंसक होता जायगा उतना ही वह आर्थी सन्दर्भ में मनुष्य हाता जायेगा और उसी में से उसके भावी विकास की दिशा भी खुलेगी। हिंसा विकासशील मनुष्य मे छिपे पशु का स्वभाव हा सकती है, पर मनुष्य का मूल स्वभाव नही हो सकती। मनुष्य का मूल स्वभाव ता अहिंसा ही रही ह।

इस का तात्पर्य यह हुआ कि चेतना के विकास का अर्थ है मनुष्य का निरन्तर अहिंसक हाते जाना—निषेधात्मक नही विधायी अर्थो में। जीवन मात्र के अस्तित्व मात्र के प्रति लगाव प्रेम, करुणा अनुकम्पा का भाव और उसका सूक्ष्मतर बोध अहिंसा के भाव की ही गुणाभिव्यक्तियाँ है। अहिंसक हाना ही वास्तविक अर्थो में मनुष्य हाना और जीवन के विकास की गति म सार्थक भूमिका निभाना है।

लेकिन जब हम हिंसा या अहिंसा की बात करते हैं तो अक्सर उसका सन्दर्भ बहुत स्थूल और दैहिक होता है। हिंसक मनुष्य भी केवल हिंसक नहीं है–वह मनुष्य भी है इसलिए बुद्धि का उपयोग भी करता है और यदि उसके उपयोग की प्रेरणा हिंसा की प्रवृत्ति हो तो उसके लिए बहुत सूक्ष्म और बौद्धिक तरीके भी ईजाद करता है। इसलिए हिंसा सिर्फ व्यक्तिगत प्रवृत्ति ही नहीं रहती बल्कि अक्सर पूरे समाज के आचरण में भी प्रतिबिम्बित होती है। जाति नस्ल, वर्ग, राष्ट्र, धर्म आदि के आधार पर अपने को श्रेष्ठ समझना और दूसरे पक्ष से सम्बन्धित व्यक्ति को अपने से ओछा या नीचा समझना हिंसा का ही सूक्ष्म रूप है। इसलिए दैहिक बल प्रयोग नहीं, राजनैतिक दमन, आर्थिक शोषण और सामाजिक उत्पीडन भी हिंसा की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। इस तर्क के आधार पर जाति नस्ल, सम्प्रदाय, राष्ट्र आदि की अन्य से श्रेष्ठता की भावना भी कहीं गहरे में हिंसा की वृत्ति से प्रेरित और उसे ही पुष्ट करने वाली भावना है। आधुनिक सन्दर्भों में तो राजनीतिक संगठनों तक को लेकर भी अपनी श्रेष्ठता और दूसरों के ओछेपन की भावना तीव्रतर होती जा रही है और आये दिन सड़कों पर विभिन्न राजनीतिक दलों के कार्यकर्ताओं में मुठभेड़ों और दलों के नेताओं द्वारा दूसरों के प्रति घृणापूर्ण भाषा के प्रयोग के द्वारा ऐसी घटनाओं को और प्रोत्साहित किया जाना इसी प्रवृत्ति के बहुत सामान्य परिणाम हैं।

हम उसी सामाजिक–आर्थिक राजनीतिक व्यवस्था को उचित कह सकते हैं जो मनुष्य के अर्थात चेतना के विकास के लिए उपयुक्त वातावरण की भूमिका निभा सके। दूसरे शब्दों में, इस पूरी व्यवस्था का भी आधार विधायी अर्थों में अहिंसा का ही होना चाहिए। तभी विकास की प्रक्रिया में मनुष्य एक चेतन प्राणी होने के नाते अपने उत्तरदायित्व को निभा पायेगा। यदि वह इस उत्तरदायित्व को नहीं निभाता है तो जैविक स्तर पर तो मनुष्य कहला सकता है लेकिन सांस्कृतिक और मूल्यगत स्तर पर नहीं। विकास की प्रक्रिया बड़ी धीमी, जटिल और भटकावों से भरी है। यदि आज हमारी व्यवस्था या हमारी प्रवृत्ति इस दिशा की ओर उन्मुख नहीं है तो यही मानना होगा कि वह मानवीय इतिहास की एक और भटकन है।

स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व ये तीनों प्रेरक सिद्धान्त मूलतः अहिंसा के सिद्धान्त के ही विभिन्न रूप हैं चाहे फ्रांसीसी क्रान्ति में इनके स्फोट का सन्दर्भ हिंसापूर्ण ही रहा हो। यही कारण है कि लोकतन्त्र, समाजवाद और अन्तर्राष्ट्रीयता या विश्वबन्धुता की धारणाएँ बुनियादी रूप में एक दूसरे से जुड़ी धारणाएँ हैं क्योंकि उन सबका मूल उत्स अहिंसा की वह विधायी प्रवृत्ति है।

जो मनुष्य के वास्तविक अर्थों म मनुष्य हो सकन का मूल आधार है। यह ठीक है कि अभी इन सब के रूप पूण ता क्या स तापजनक भी नही ह और दुनिया को अधिकाश आबादी अपन अस्तित्व की जविक आवश्यकताओ के सघष म ही इस तरह उलझी है कि अ य बाता की ओर या ता ध्यान ही नही जाता या उ ह बौद्धिक विलास मान लिया जा सकता है। लेकिन जविक आव यकताओ के पूरा न हो सकने का भी एक मूल कारण क्या यही नही है कि चेत ा का अपना देह और स तान परिवार से लेकर सम्प्रदाय और राष्ट्र तक के छाटे बडे दायरा म ही बाधा जाता रहा है। उसका सही अर्थो म वश्विक बल्कि सम्पूण अस्तित्व तक विस्तार नही हो पा रहा जो कि उसकी सही दिशा ह। यह ठीक है कि यह सब तुर त नही हो सकता। लेकिन आवश्यक यह ह कि हम अपनी वतमान दिशा को पहचान और यदि वह हम मनुष्य होन और उससे आगे के विकास की ओर नही ले जा रही हो तो उस बदल देने के लिय सचेष्ट हो। चेतनासम्प न होत जान के साथ ही यह जिम्मेदारी स्वय मनुष्य पर ही आ जाती है कि वह अपन भावी विकास की दिशा का निर्धारित और उसकी प्रक्रिया को नियन्त्रित कर।

सस्कृति सार्वभौमिकता की दिशा

सस्कृति की चर्चा म इस बात की अनदखी की जाती रही है कि हम अधिकाशत सस्कृति के नाम पर उन उपकरणो की चर्चा ही करते रह जाते हैं जिनके माध्यम से उसके बाह्य स्वरूप की भी औपचारिक पहचान ही हो पाती है और मूल तत्त्व अक्सर अनछुआ ही रह जाता है। उस मूल तत्त्व की खोज और फिर उसके सहारे सास्कृतिक उपकरणो की बनावट की पहचान अर्थात् तात्त्विक और अभिव्यक्त स्तर पर सस्कृति के मूल आधार का नाम ही सस्कृति का वास्तविक ज्ञान है—बाकी सारी चर्चा तो वही है जिसे अग्रेजी मुहावरे में 'बीटिंग अराउंड बुश' कहा जाता है। यही कारण है कि आधुनिक कहा जाने वाला समाज अधिकाशत सस्कृति को एक ऐतिहासिक वस्तु मानता है—और आश्चय नही कि इसीलिए विश्वविद्यालयो म 'प्राचीन इतिहास और सस्कृति' के विभाग एक ही होते हैं और क्योकि इतिहास कभी वतमान नही होता अत वतमान सस्कृति का कोई विभाग भी क्यो हो!—और इसीलिए सस्कृति आधुनिक समाज के लिए सजावट का समान हो जाती है। कुछ अय लोग होते हैं—और वे पहले वग से तो कुछ बेहतर ही होते हैं—जो सस्कृति को एक जीवित वस्तु तो मानते हैं पर उनका तात्पय एव सम्बध कला साहित्य आदि के प्रति एक उदार सरक्षक भाव स ही अधिक होता है। उनकी समझ म यह आना मुश्किल होता है कि यदि किसी समाज म कला और साहित्य को पर्याप्त आर्थिक सरक्षण प्राप्त है लेकिन अपने व्यापक आचरण म वह समाज एक शोषक, आततायी और हिंसक समाज है तो उसे सास्कृतिक दृष्टि से भी अविकसित क्या कर कहा जा सकता है जबकि कला और साहित्य को वहाँ श्लाघनीय सुविधाए और सम्मान प्राप्त हैं। इस वग के लोगो की नजर मे तो कला और साहित्य को पुरस्कृत करने वाला वह व्यक्ति भी एक सास्कृतिक व्यक्ति है जिसकी सारी सम्पन्नता अपन से इतर के शोषण और दमन पर टिकी है। यही कारण है कि इतिहास मे दो चार इमारतें बनवा देने या किसी लेखक विद्वान को अपने दरबार मे आश्रय दे देने के कारण ऐसे धर्माध और अत्याचारी शासको और अन्य व्यक्तियो को भी सस्कृति का सरक्षक कहा गया है जिनके अय सारे कार्यों को निदनीय और मानवविरोधी ही कहा जायेगा।

जाहिर है कि कला और साहित्य सास्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति के उपकरण हैं और उपकरणो का सम्मान तब तक सस्कृति का सम्मान नही माना जा सकता जब तक कला और साहित्य मे अभिव्यक्त हो रही मूल्यचेतना का भी व्यावहारिक स्तर पर सम्मान न हो। इसके बिना भी यदि समाज मे कला या साहित्य के प्रति सम्मान का भाव प्रदर्शित किया जाता है—जसा कि आजकल बहुधा किया जाता है—तो यही मानना होगा कि वह समाज एक सास्कृतिक पाखण्ड का शिकार है।

स्पष्ट है कि सस्कृति का आधार किसी समाज का मूल्य बोध और उसकी कसौटी उस समाज का आचरण है। यदि ऐसा है तो सस्कृति की चर्चा मे हम उसे सदव कालबद्ध या देशबद्ध कर क्यो देखते है? अध्ययन की सुविधा के लिए हम यदि उसका वर्गीकरण करें भी तो उसे आत्यन्तिक नही बना दिया जाना चाहिए जबकि होता यही है कि हम उसे न केवल अलग अलग खाँचा म बाट देत है बल्कि इस विभाजन को ही वास्तविक सस्कृति मान लेते है और अन्य खाँचो से उसकी एकसूत्रता बनाने की बजाय उसका अलगाव बताने और उसे बनाये रखने म ही सारी शक्ति श्रम व्यय करते ह। मेरे मन को यह बात निरन्तर मथती रही है कि यदि सस्कृति मूल्य दृष्टि है तो वह सार्वभौम है तब उसे देश प्रदेश की सीमाओ म बाट कर देखना बुनियादी रूप से गलत है।

यदि सस्कृति एक मूल्यगत प्रक्रिया है तो वह एक सार्वभौम और सनातन प्रक्रिया है। उस प्रक्रिया का बुनियादी प्रयोजन और लक्ष्य एक ही है उसकी मूल प्रवृत्ति और आकाक्षा एक ही होनी चाहिए। यदि उसके बाह्य स्वरूप मे कोई परिवर्तन दिखायी भी देते हैं तो वे सन्दर्भगत परिवर्तन है जिनसे मूल आधार पर कोई असर नही पडना चाहिए। ऐसी स्थिति म सस्कृति के देशबद्ध रूप पर अधिक जोर देना या उसी को किसी के लिए अनिवार्य मान लेना क्या प्रकारान्तर से सस्कृति की मूल अवधारणा का ही विरोध करना नही है? कुछ लोग कह सकते हैं कि देशकाल के अनुसार मूल्य बदलते रहते हैं अत विभिन्न देश प्रदेशो की सस्कृति यदि एक दूसरे स अलग है तो अलगाव स्वाभाविक है। लेकिन ऐसा कहने वाले यह भूल जाते हैं कि समय और सन्दर्भ के अनुसार मूल्यो के स्वरूप म तो परिवर्तन हो सकता है होता है लेकिन मूल्यो की मूल प्रकृति नही बदलती। भौगोलिक और पर्यावरण के कारणो से मनुष्यगत अनिवार्यताओ के कारण कुछ परिवर्तन होन भी हैं तो उन्हे आत्यन्तिक मान लेना क्या एक प्रकार का दुराग्रह ही नही है?

मध्यकाल तक तो सस्कृति की देशबद्ध धारणा का कुछ आधार फिर भी हो सकता था। जब तक सस्कृति या मूल्य चेतना का मुख्य आधार जाति या धर्म

रहा तब तक विभिन्न धर्मव्यवस्थाओं को मानने वाले देशों और विभिन्न जातियों में यदि कुछ मूलभूत अंतर दिखाई भी दिये तो यह अस्वाभाविक नहीं था। लेकिन आज जब विभिन्न जातियां आपस में घुलमिल चुकी हैं तथा अलग से उनकी पहचान कर पाना सम्भव नहीं रह गया है और धर्म का खास तौर से उपासना पद्धति का जीवन और व्यवस्था पर वैसा नियन्त्रण और केन्द्रीय प्रभाव नहीं रह गया है जो प्राचीन और मध्ययुग तक था तो संस्कृति को देशबद्ध रूप में देखने या विकसित करने की क्या सार्थकता हो सकती है? विभिन्न धर्मों के विश्वासों और आचार में कुछ बुनियादी एकता थी तो कुछ बुनियादी भिन्नताएँ भी थी और इसलिए उनके आधार पर विकसित मूल्यों में कुछ भिन्नताएँ हो सकती थी जिससे किसी धर्म विशेष के अनुयायी समाज या क्षेत्र के लिए एक भिन्न संस्कृति का विकास सम्भव था। लेकिन आधुनिक समाज में धर्म प्रभुतासम्पन्न स्थान खोता जा रहा है और धर्म के रूढिगत स्वरूप और विश्वासों को मानव अपने विवेक की कसौटी पर कसने लगा है। दूसरे शब्दों में, इसका तात्पर्य यह हुआ कि मूल्य दृष्टि को निर्देशित करने वाला तत्त्व अब शास्त्र या धर्म नहीं बल्कि मनुष्य का अपना विवेक हो गया है। यह विवेक सार्वभौम है, किसी भौगोलिक सीमा या राजनीतिक नागरिकता से बद्ध नहीं। ऐसी स्थिति में एक सनातन प्रक्रिया के रूप में संस्कृति की देशबद्धता की आत्यन्तिकता का आग्रह क्या दुराग्रह या कुछ उदार होकर सोचें तो पूर्वग्रह नहीं है? आपत्ति उठाई जा सकती है कि धर्म अभी भी केन्द्रीय प्रेरक तत्त्व बना रह सकता है, कि विज्ञान धर्म को कभी भी पूर्णतया पदच्युत नहीं कर सका कि विज्ञान भी धर्म की बहुत सी बातों को स्वीकार करता जा रहा है कि अब धर्म कोई सम्प्रदाय नहीं बल्कि एक आध्यात्मिक अनुभव है और उसी के आधार पर भावी संस्कृति का विकास होगा आदि आदि। लेकिन इन सभी आपत्तियों को सही मान लेने पर भी संस्कृति की देशबद्धता की अनिवार्यता पर तो प्रश्नचिह्न लगा ही रहता है—और तब क्या देश भी एक सांस्कृतिक स्वाभाविकता से अधिक एक भौगोलिक अनिवार्यता और राजनैतिक आवश्यकता ही नहीं रह जाता? संस्कृति को अक्सर किसी भाषा या धर्म सम्प्रदाय या देश के साथ जोड़कर देखा जाता रहा है—यथा बंगला संस्कृति, हिन्दू संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति, ईसाई संस्कृति, भारतीय संस्कृति, फ्रेंच संस्कृति आदि। लेकिन ऐसा विभाजन यदि एक मूलभूत संस्कृति के सन्दर्भगत और परिवेशगत विभिन्न स्वरूपों को समझने के लिए किया जाय तो कुछ सीमा तक उसकी अपनी उपादेयता भी है लेकिन इस विभाजन को आत्यन्तिक मानकर उसे ही विभिन्न समाजों या व्यक्तियों के सांस्कृतिक आचरण की एक मात्र कसौटी बना लेना क्या एक सांस्कृतिक पाखण्ड को विकसित होने देना नहीं है?

किसी जमाने में संस्कृति की चर्चा अधिकांशत धर्म के साथ जोडकर की जाती थी। फिर यह चर्चा राष्ट्र के साथ जोडकर की जाने लगी। अब लगता है कि यदि संस्कृति की बात पूरी मानव जाति के सन्दर्भ में नही की जाती है और हमारा ध्यान स्वरूपगत भिन्नताओं के कारण अलगाव को पुष्ट करते रहने की बजाय प्रकृतिगत बुनियादी एकता को पुष्ट करने की ओर नही जाता है तो यह सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया मे एक ऐतिहासिक विसंगति की ओर से आखें मूदना होगा जिसके परिणाम पूरी मानव जाति को, और इसलिए हम भी, भुगतने होंगे।

विकसित होने में मनुष्य ही सर्वाधिक प्रमुख कारण रहा है कोई दैवी या भूतातीत सत्ता उसका कारण नहीं रही है—यानी किसी भी मानवीय परिस्थिति का विकास मानव व्यवहार के माध्यम से होता है अतः मानव निर्मित ही है। व्यावहारिक दृष्टि से तो यह बात ठीक लग सकती है लेकिन तात्त्विक दृष्टि से इसमें एक बड़ी खामी यह है कि यदि मानव किसी परिस्थिति विशेष के विकसित होने का माध्यम ही नहीं है तो वह उसका निर्माता नहीं है। ऐसी स्थिति में हम किसी भी मानवीय परिस्थिति को मानवनिर्मित नहीं कह सकते—पूर्णतया मानवनिर्मित परिस्थिति तो कह ही नहीं सकते। जब किसी वस्तु का माध्यम की तरह इस्तेमाल करते हुए हम कोई चित्र, मूर्ति आदि बनाते हैं तो उसके बनने की प्रक्रिया में वस्तु विशेष की अपनी प्रवृत्ति भी एक हद तक प्रभावी होती है लेकिन अन्ततः जो कलाकृति हमारे सम्मुख आती है उसे हम मानवनिर्मित कलाकृति कहते हैं वस्तुनिर्मित कलाकृति नहीं। इसीलिए यह होता है कि एक ही वस्तु के माध्यम से बिल्कुल भिन्न आशयों को प्रेषित करने वाली और भिन्न रूपों वाली कलाकृतियों की रचना सम्भव हो पाती है अर्थात् उसकी रचना में रचनाकार मानव का नियन्त्रक प्रभाव रहता है और इसीलिए उसे मानवनिर्मित कलाकृति कहा जाता है।

देखना होगा कि मानवीय परिस्थितियों के विकास में भी मनुष्य क्या इसी तरह का नियन्त्रक प्रभाव रख सकता है यानी किसी तरह की सामाजिक आर्थिक राजनीतिक परिस्थितियों का निर्माण मनुष्य अपने अनुकूल कर सकने में समर्थ है या नहीं? बहुत से लोगों को लग सकता है कि यह एक बेकार प्रश्न है क्योंकि मनुष्य का यह सामर्थ्य तो बिल्कुल स्पष्ट है, उसके सारे वैज्ञानिक आविष्कार और उनके आधार पर सभी प्रकार की परिस्थितियों को अपने अनुकूल करने की कोशिश में मिलती जा रही सफलता ही क्या उसके इस सामर्थ्य का परिणाम नहीं है? लेकिन मेरी राय में यह प्रश्न बड़ा महत्त्वपूर्ण है यदि हम यह मान लेते हैं कि मनुष्य परिस्थितियों के विकास में नियन्त्रक प्रभाव नहीं रख सकता। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना जरूरी है कि मनुष्य पर जोर देने का तात्पर्य मनुष्य की चेतना और विचार शक्ति पर जोर देना है क्योंकि यही चीज उसे अन्य जीवों से बुनियादी रूप से अलग करती है—नहीं तो यही मानना होगा कि मानवीय परिस्थितियों का विकास एक ऐसी अचेतन प्रक्रिया है जिसमें कोई परिवर्तन सम्भव नहीं है अतः अधिक से अधिक हम यही कर सकते हैं कि उस प्रक्रिया की दिशा को पहचान लें—यद्यपि वह पहचान भी चेतना निरपेक्ष नहीं हो सकेगी—और उसके साथ हो

होगा कि वह क्या है जो मनुष्य के अनुकूल है—किसी एक मनुष्य के नही बल्कि पूरी मानव जाति के अनुकूल। और मनुष्य क्यो कि जीवन का ही एक गुणात्मक रूपान्तर है इसलिए यह भी देखना होगा कि यह अनुकूलता सिर्फ मनुष्य के लिए ही नही समग्र जीवन के लिए हो।

अभी तक उपलब्ध जानकारी के अनुसार मनुष्य को जीवन का सर्वश्रेष्ठ गुणात्मक विकास माना गया है और इसका निर्धारित तत्त्व उसकी चेतना है—यानी चेतना न केवल मनुष्य को विशिष्ट बनाती है बल्कि जीवन का सर्वश्रेष्ठ गुणात्मक विकास है। मनुष्य चेतनासम्पन्न है अत उत्तरदायी भी है—अपनी ही चेतना के प्रति उत्तरदायी क्योकि उसके मानवत्व की सिद्धि इसी मे है कि उसके प्रत्येक निर्णय व कर्म म मानवीय चेतना प्रतिबिम्बित हो। उसका हर कर्म चेतना से प्रसूत है अत वह उस कर्म के लिए उत्तरदायी भी है क्योकि वह कर्म विचारपूर्वक और सकल्पपूर्वक किया हुआ कर्म है। इस उत्तरदायित्व का सहज बोध ही वह मूल्यबोध है जिसकी अपेक्षा हर मानव प्राणी से की जाती है। इसलिए परिस्थितियो का—भौतिक और मानवीय दोनो प्रकार की परिस्थितियो को—मनुष्य के अनुकूल विकसित करने का तात्पर्य उन्हे इस तरह विकसित करना है कि वे चेतना के सरक्षण, सवर्धन और गुणात्मक विकास के लिए अधिकाधिक अनुकूल हो सके। चेतना का यह विकास प्रत्येक मनुष्य मे होता है यदि हम मानव देह म ही उसका अस्तित्व मान।

विज्ञान का ही विज्ञान की कोटि म स्वीकार कर रहे होते हैं। दूसरा मतलब स्पष्टतया यही ह कि विज्ञान या वस्तुनिष्ठता का आग्रह सिफ तार्किकता या बुद्धिवादिता का आग्रह नही ह बल्कि वह तक या बुद्धि की प्रक्रिया के प्रमुख स्रोत के रूप म भी प्राकृतिक विज्ञान को ही मानने और उस प्रक्रिया के परिणामो की परख भी उस मूल स्रोत के आधार पर ही करने का आग्रह है। दूसरे शब्दो म, यह एक स्पष्ट आग्रह है कि मनुष्य की चेतना और व्यवहार की प्रक्रिया भी भौतिक या प्राकृतिक विज्ञान के नियमो से सचालित एव बाधित ह, अत उनका अध्ययन भी इसी आधार पर किया जाना सगत यानी विज्ञानसगत है। इस मानने का मतलब यह मान लेना ह कि मनुष्य सम्पूर्णत एक भौतिक अस्तित्व है—देह नही चेतना के स्तर पर भी एक भौतिक अस्तित्व है—और इसीलिए उसका अध्ययन और उसके व्यवहार का सचालन भी भौतिक विज्ञान के नियमो के आधार पर ही होना चाहिए। यही कारण ह कि एक ओर साहित्य और कला जसी मानवीय चेतना की ललित अभिव्यक्तियो म तो दूसरी ओर इतिहास की प्रक्रिया म—जो मानवीय व्यवहार की सागोपाग अभिव्यक्ति ह—उन्ही नियमो का आरोपण किया जाता ह जो भौतिक विज्ञान के अपने निष्कर्ष होते हैं। इसीलिए कभी इतिहास को भौतिकीय द्वद्वात्मकता के आधार पर समझने की कोशिश की जाती है तो कभी डार्विनीय विकासवाद के आधार पर। इस तरह के प्रयत्नो की अपनी सार्थकता है और उससे भी इतिहास की हमारी समझ बढती ही है, लेकिन समस्या वहाँ उठती है जब हम केवल भौतिकीय नियमो या प्राकृतिक विज्ञान के अद्यतन निष्कर्षों को ही न केवल सारे इतिहास पर लागू कर देते हैं बल्कि मानवीय आचरण का औचित्य भी उन्ही के आधार पर जाचने परखने लगते हैं। यानी जब हम यह मान लेते है कि मनुष्य समग्रत एक भौतिक अस्तित्व है अत उसके सभी प्रकार के आचरण का स्रोत भौतिकीय नियम ही है।

क्या यह अपने आप म एक विज्ञानसगत धारणा है? क्या मनुष्य ठीक उसी प्रकार से एक भौतिक अस्तित्व है जिस प्रकार पत्थर, लोहा, प्रकाश या पेड पौधे आदि भी है? क्या मनुष्य और सृष्टि के अस्तित्व की पृष्ठभूमि म सचमुच कोई चेतन्य तत्त्व नही है? क्या इस चेतन्य तत्त्व का न होना स्वय भौतिक विज्ञान द्वारा सवत प्रमाणित है? क्या मनुष्य की चेतना सिफ भौतिक तत्त्वो का ही समवाय है? क्या विज्ञान द्वारा इस सम्बन्ध म किसी अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचा जा चुका है? क्या विज्ञान द्वारा भी अब कुछ जानना बाकी नही रह गया है? क्या विज्ञान द्वारा जो कुछ पहले जाना गया वह काफी हद तक अधूरा या एकागी सिद्ध नही हुआ है? इन सब प्रश्नो का स्पष्ट उत्तर पाये बिना सम्पूर्ण मनुष्य जाति के भविष्य को केवल भौतिकीय नियमो द्वारा

संचालित करने की कोशिश न केवल अमानवीय बल्कि अवैज्ञानिक कोशिश ही कही जा सकती है।

आधुनिक युग के बहुत से वैज्ञानिक भी अब यह स्वीकार करने लगे हैं कि भौतिक अस्तित्व की पृष्ठभूमि में किसी चेतना के अस्तित्व को स्वीकार किए बिना भौतिक जगत की सही एवं पूर्ण व्याख्या सम्भव नहीं है। नोबल पुरस्कार विजेता जीववैज्ञानिक डा. जार्ज वाल्ड का मानना है कि चेतना के जीवन के उद्गम के मूल में होने की सम्भावना को मानकर हम अनेक वैज्ञानिक गुत्थियों का हल कर सकते हैं। भौतिक विज्ञानी प्रोफेसर यूजेन विगनर यह मानते हैं कि चेतना के सिद्धान्त का सहारा लिए बिना क्वान्टम यांत्रिकी को नहीं समझा जा सकता। इसी प्रकार भौतिकविज्ञानी चौवी जीवन के भौतिक उद्गम की सम्भावना को सही नहीं मानते। फ्रांसीसी वैज्ञानिक ज्यां करन ब्रह्माण्ड का आद्य प्रारम्भ चेतना से ही मानते हैं। धीरे-धीरे एक बड़ी संख्या में वैज्ञानिक भौतिक प्रक्रिया में निहित चेतना के अस्तित्व को स्वीकार करने की ओर उन्मुख हो रहे हैं। काप्रा जैसे विज्ञानवेत्ता रहस्यवादी और आध्यात्मिक अनुभूतियों तथा विज्ञान द्वारा प्रमाणित अणु-परमाणु व्यापार में एक साम्य देखते हैं।

लेकिन यह मानना चाहिए कि इस दिशा में भी अभी तक विज्ञान ने कोई स्पष्ट निष्कर्ष नहीं दिया है। उल्लिखित सभी विज्ञानवेत्ता चेतना की सम्भावना के बारे में ही बात कर रहे है, उसके आद्य अस्तित्व को प्रमाणित कर सकने का कोई वैज्ञानिक आधार वे नहीं दे सके है, अतः उनके विचार भी अभी तक विज्ञानसिद्ध विचार नहीं है– बल्कि इस सम्भावना को भी पूर्णतया अनदेखी नहीं की जा सकती कि अनवरत शोध की थकान और उसके बावजूद किसी अंतिम निष्कर्ष तक न पहुँच पाने की हताशा ने उन्हें इस तरह की सम्भावनाओं पर विचार करने के लिए बाध्य किया हो।

इसलिए बेहतर है कि हम एक बार जीवन और इसलिए मनुष्य के भौतिक उद्गम को ही स्वीकार कर आगे का रास्ता पहचानने की कोशिश कर देखें। यदि हम यह मान भी लें कि जीवन और मनुष्य–और इसलिए चेतना भी–भौतिक तत्वों के संयोग से हुआ एक गुणात्मक विकास है तो भी क्या हम मानवीय चेतना और उसके व्यवहार को भौतिकीय नियमों द्वारा संचालित मान सकते हैं? यहाँ यह प्रश्न भी तो उठता है कि जो 'मूल' में नहीं है वह 'परिणाम' में कैसे आ सकता है, क्योंकि कार्य को कारण से अलग नहीं किया जा सकता। अर्थात् भौतिक तत्व में भी चेतना का बीज रूप में होना तो स्वीकार करना ही होगा। लेकिन फिलहाल इस सवाल को यहीं पर छोड़ते हुए यह मान भी

गुजारश के लिए हम थोडी देर के लिए यह मान लेते हैं कि चेतना भौतिक तत्वों के आपसी सघात का गुणात्मक विकास है अत वह ब्रह्माण्ड के आद्य प्रारम्भ मे नही बल्कि विकास प्रक्रिया का परिणाम है। यदि ऐसा है भी तो क्या वह अपने गुणात्मक अतर के बावजूद उ ही नियमो स प्रभावित और सचालित है जो चेतनाहीन भौतिक तत्वो पर लागू होते है ? भौतिक तत्वो म चेतना का विकास एक युगा तरकारी और बुनियादी गुणात्मक विकास है क्योकि भौतिक तत्वो की प्रक्रिया एक अधी प्रक्रिया है—प्राकृतिक शक्तिया सचेत नही है, वे सकल्प विकल्पहीन शक्तिया है—जबकि मनुष्य को एक भौतिक अस्तित्व मान लेने पर भी वह एक ऐसा चेतनासम्पन्न भौतिक अस्तित्व होता है जिसकी भौतिक प्रक्रिया पर भी चेतना का नियन्त्रण रहता है—बल्कि यह नियन्त्रण जितना अधिक विकसित होता है उतना ही वह अपने गुणात्मक विकास का और अधिक सरक्षण सवधन करता हुआ उस दिशा के आगे के गुणात्मक विकास की ओर उन्मुख होता जाता है। यदि चेतना भौतिक तत्वो का ही गुणात्मक विकास है तो चेतनापूर्ण भौतिक तत्वों की प्रक्रिया मे एक बुनियादी गुणात्मक अतर होना स्वाभाविक है—खास तौर से तब जब कि चेतना का तात्पर्य ही विचार, सकल्प विकल्प और वरण करने तथा अपने वरण किये हुए रास्ते पर कुछ चल कर पुनर्विचार करने और तदनुसार रास्ते का नये सिरे से निर्धारण करने के गुणो स भी है क्योकि चेतना ज्ञान और कम की स्वतन्त्र प्रक्रिया की दिशा मे ले जाने वाला गुण है। इस दृष्टि स विचार करने पर भी चेतना और उसके द्वारा सचालित मानवीय व्यवहार को पूर्णतया भौतिक नियमो के आधीन मानने का आग्रह, यानी मानवीय चेतना और व्यवहार को विज्ञानसिद्ध नियमो, भौतिक या प्राकृतिक विज्ञान के नियमो स प्रेरित और नियन्त्रित करने का आग्रह क्या अपने आप म एक अध आग्रह नही है ? क्या यह मानवीय विचार पर एक तरह की यान्त्रिकता का आतक नही है ? मेरे पास भी इसका कोई स्पष्ट उत्तर या विज्ञान सम्मत उत्तर नही है। लेकिन इस प्रश्न पर विचार करने की आवश्यकता है और इसके स्पष्ट उत्तर के बिना मानवीय नियति को इसी के आधार पर निर्देशित करने की चेष्टा का आग्रह एक सही और मानवीय आग्रह नही कहा जा सकता।

इसम कोई सदेह नही कि भौतिक या प्राकृतिक विज्ञान ने भौतिक या प्राकृतिक शक्तियो को पहचानने म हमारी काफी मदद की है। मानवीय आचरण के अध्ययन म भी कई बार कुछ भौतिक तथ्यो को समझने की जरूरत पडती है। निश्चय ही ऐसी स्थिति म भौतिक विज्ञान तथ्य जगत की

सही पहचान करवाने में हमारी मदद करता है और उसकी इस उपयोगिता की अनदेखी नहीं की जानी चाहिए। मनुष्य एक चेतनामय भौतिक अस्तित्व है, अत उसकी भौतिक यानी जविक प्रक्रिया को समझने में भी भौतिक विज्ञान का उपयोग सगत है, लेकिन उसकी चेतना के व्यवहार को भौतिकीय नियमो से शासित मानकर वज्ञानिकता के नाम पर उसे निर्देशित या नियन्त्रित करना कहा तक विज्ञान सम्मत है, इस पर विचार करने की जरूरत अवश्य महसूस होती है।

स्वतन्त्रता सुविधा नही दायित्व

स्वतन्त्रता का क्या अथ है ? इसी के साथ जुडा है 'स्वतन्त्रता किसस' का सवाल भी। 'फ्रीडम' और 'फ्रीडम फ्रॉम' को एक दूसर स अलग करके नही देखा जा सकता, यदि 'फ्रीडम फार' भी इसी सवाल का एक पहलू है, क्योकि स्वतन्त्रता कोई निष्प्रयोजन धारणा नही है।

दरअसल, स्वतन्त्र हो सकने म ही हमारे मनुष्य हो सकने की सारी सम्भावनाएँ निहित है, क्योकि स्वतन्त्र हुए बिना सजनशील होना सम्भव नही और मनुष्य होने का अनिवाय लक्षण सजनशील होना है—यही वह प्रवृत्ति है जो मनुष्य को अन्य प्राणियो स अलग करती है। इसका मतलब हुआ कि स्वतन्त्रता एक ऐसी गतिशील स्थिति है जो मनुष्य मे निहित सजनात्मकता को प्रेरित करती है और इसीलिए व सभी प्रवृत्तिया तथा स्थितिया स्वतन्त्रता विरोधी अत मानव विरोधी हैं जो मानवीय सजनात्मकता की अभिव्यक्ति के रास्त मे बाधाएँ पदा करती ह। उनके विरुद्ध किया गया हर सघष इसीलिए स्वतन्त्रता के लिए किया जान वाला सघष है।

इस धारणा का आधार बना कर ही इसके राजनीतिक आर्थिक सामाजिक प्रतिफलन को समझा जाना चाहिए क्योकि वही इसका व्यावहारिक रूप है। राजनतिक सामाजिक स्तर पर लोकतन्त्र तथा आर्थिक स्तर पर समाजवाद के लिए किया जान वाला हर सघष इसीलिए स्वतन्त्रता के लिए किया जाने वाला सघष है। राजनतिक दमन सामाजिक उत्पीडन तथा आर्थिक शोषण मूल रूप म एक ही स्वतन्त्रता विरोधी प्रवृत्ति के अलग दीखन वाले रूप हैं पर बुनियाद एक ही है—स्वतन्त्रता विरोध अथात् मानव विरोध। लेकिन इन प्रवृत्तियो क खिलाफ किये जान वाले सघष म इस बात का खतरा भी निरन्तर बना रहता है कि लोकतान्त्रिक या समाजवादी व्यवस्था को ही स्वतन्त्रता मान लिया जाय—तभी यह होता है कि सिफ वोट देने के अधिकार या रोटी-कपडे क अधिकार को ही अन्तिम कसौटी मान लिया जाय और यह नही देखा जाय कि जिस परम उद्देश्य स्वतन्त्रता अर्थात् स्वतन्त्र सजनशील मानवीय चेतना के लिए सघष किया गया था उसी का दमन वोट के अधिकार या रोटी कपडा दन के लिए किया जा रहा है।

इसलिए यह देखते रहना निरन्तर आवश्यक है कि कहीं लोकतन्त्र या समाजवाद के नाम पर स्थापित की गयी व्यवस्था न स्वयं का उस मूल्य से अधिक महत्त्वपूर्ण तो नहीं बना लिया है जिसके लिए उसे विकसित किया गया था क्योंकि अक्सर यह देखा गया है कि संगठन और व्यवस्थाएँ बहुत शीघ्र अपने मूल्यगत उद्देश्यों को भूलकर अपना अस्तित्व बनाये रखने को ही—चाहे कभी भली नीयत से भी—प्रमुख उद्देश्य समझ लेती है तथा येनकेन-प्रकारेण अपने औपचारिक स्वरूप को बनाये रखने के लिए उन मूल्यों के विरोध में ही काम करने लग जाती हैं, जिनके लिए उनका जन्म हुआ था। राजनैतिक दलों और विभिन्न सरकारों का इतिहास इस कथन की पुष्टि करता है। इसीलिए न तो पूँजीवादी—सामन्तवादी समाजों को स्वतन्त्र कहा जा सकता है और न समाजवादी कहे जाने वाले सर्वाधिकारवादी समाजों को ही, क्योंकि पहले प्रकार के लिए स्वतन्त्रता कोई मूल्य नहीं, कुछ लोगों की सुविधा बन जाती है और शायद इसी की प्रतिक्रिया स्वरूप दूसरे प्रकार के लिए एक प्रतिक्रियावादी धारणा और विलासिता।

यह आश्चर्यजनक है कि सामाजिक आर्थिक सन्दर्भों में जिन दो भारतीयों ने हमारे युग में स्वतन्त्रता की धारणा को इस परिप्रेक्ष्य में सर्वाधिक सही रूप में देखा, उन दोनों में आपस में कोई तालमेल नहीं हो सका, बल्कि एक दूसरे को काफी गलत भी समझा गया—उसके कारणों पर चर्चा फिर कभी। महात्मा गान्धी की अहिंसा और विकेन्द्रीकरण तथा एम. एन. राय का बुनियादी लोकतन्त्र एक दूसरे से जुड़े हैं—चाहे राय भौतिकवादी रहे हों और गान्धी अध्यात्मवादी। लेकिन राय मनुष्य की सर्जनात्मक सम्भावनाओं में आध्यात्मिकता को भी एक मानते थे तथा गान्धी की अहिंसा की धारणा में यह स्पष्ट था कि मनुष्य को उस सारे शोषण उत्पीड़न से मुक्त किया जाय जो उसकी सम्भावनाओं को कुण्ठित करता है। स्वतन्त्रता का संघर्ष इसीलिए गान्धी के लिए एक आध्यात्मिक साधना थी।

हमारे यहाँ अहिंसा को बहुत एकांगी अर्थ में लिया जाता रहा है—शायद इसलिए कि यही अर्थ उन लोगों के अनुकूल पड़ता है जो शासन तन्त्र, अर्थव्यवस्था तथा समाज पर हावी होते रहे हैं। यह वर्ग हिंसा को सिर्फ दैहिक अर्थों में ही ग्रहण करता है जो कि उसकी स्थूलतम अभिव्यक्ति है। बुनियादी अर्थ में तो वह हर भावना और चेष्टा हिंसा है जो मनुष्य मात्र अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति सहित पूरी मानवता की सर्जनात्मक सम्भावनाओं की अभिव्यक्ति व पल्लवन का दमन करती है। सर्जनात्मकता का दमन हिंसा की सूक्ष्मतर और इसीलिए गुरुतर अभिव्यक्ति है।

इसीलिए हम उस किसी भी कर्म या नैतिक स्तर पर उचित नही कह सकते जो स्वतन्त्रता को कुठित करता हो चाहे वह किसी के द्वारा स्वेच्छा से ही क्यो न लिया गया हो, क्योकि इस प्रकार का कोई भी कर्म या निर्णय मूल्यगत स्तर पर स्वतन्त्रता विरोधी है। इसी प्रकार किसी भी समाज मे—चाहे उसने लोकतन्त्र का औपचारिक रूप बना रखा हो—किसी प्रकार के शोषण और पूरी मानवता के साधना और श्रम को किसी एक व्यक्ति, व्यक्ति समूह, वर्ग, जाति या देश द्वारा दोहन व उसके फलो को अपने उत्तराधिकारियो के लिए सुरक्षित कर देने की चेष्टा भी स्वतन्त्रताविरोधी व अलोकतान्त्रिक है।

स्वतन्त्रता इसीलिए सुविधा नही उत्तरदायित्व है। जब हम उसे एक ऐसे मूल्य के रूप मे स्वीकार करते हैं जिससे अन्य मानवीय मूल्य एक पोषण व सरक्षण पाते हैं तो निरन्तर यह देखते चलने का उत्तरदायित्व भी हमी पर आता है कि कही हमारा कोई कदम दूसरो की स्वतन्त्रता को और इस प्रकार निज की सर्जनशीलता को भी कुठित करने वाला तो नही है। पूजीवादी—सामन्तवादी समाज यदि सही अर्थों मे स्वतन्त्र समाज नही हैं तो इसीलिए कि उस व्यवस्था मे सारा जोर अपनी स्वतन्त्रता पर केन्द्रित है जो स्वतन्त्रता का अवमूल्यन कर उसे व्यक्तिगत सुविधा के स्तर पर गिरा देता है। इसी प्रकार समाजवाद के नाम पर राजनैतिक तानाशाही कायम करने वाले समाजो मे भी इस बात की उपेक्षा की जाती है कि समाजवाद भी स्वतन्त्रता की चरम धारणा की ही सामाजिक आर्थिक अभिव्यक्ति है और इसलिए किसी भी समाजवादी व्यवस्था की एक परख यह भी है कि वह एक समग्र धारणा के रूप मे स्वतन्त्रता को पुष्ट करती है या नही। स्वतन्त्र होने का अर्थ सर्जनशील होना है अत जो व्यवस्था मानवीय सर्जनशीलता को कुठित करती है वह उतनी ही स्वतन्त्रताविरोधी व अनैतिक भी है। गहराई से देखा जाय तो पूजीवादी सामन्तवादी तथा समाजवादी कही जाने वाली सर्वाधिकारवादी व्यवस्थाएँ दोनो ही स्वतन्त्रता का अवमूल्यन कर उसे एक ही स्तर पर ला पटकती है—एक उसे कुछ लोगो की वास्तविक सुविधा व अन्य सब के लिए एक औपचारिकता बना देती है तो दूसरी उसे सिर्फ बूर्ज्वा विलासिता समझकर उसका दमन करती है। दोनो ही उसे मूल्यगत स्तर पर ग्रहण नही करती इसीलिए दोनो मे उसके लिए दायित्व का बोध नही है। इसीलिए जिस समाज मे किसी भी प्रकार का शोषण उत्पीडन है वह समाज न केवल राजनैतिक सामाजिक स्तर पर स्वतन्त्र नही है बल्कि अनैतिक समाज है—क्योकि वह स्वतन्त्रता को एक समग्र मूल्य नही मानता अत उसके प्रति किसी प्रकार का नैतिक दायित्व भी नही स्वीकार करता।

व्यवस्था की कसौटी

मनुष्य के विकास की सही दिशा क्या है इस प्रश्न पर किसी भी प्रकार के विचार विमर्श से पूर्व यह स्पष्टतया समझ लेना जरूरी है कि मनुष्य की हमारी अवधारणा क्या है। आखिर वह क्या बात है जो मनुष्य को पृथ्वी पर पाये जाने वाले अन्य प्राणियों से अलग करती है? यदि हम यह समझ लेते हैं कि मनुष्य क्यों मनुष्य है तो फिर यह समझ लेना भी मुश्किल नहीं रहता कि मनुष्य जीवन के विकास की सही दिशा क्या हो सकती है और यह भी कि किस तरह का आचरण हम अच्छा और सही मनुष्य बनाता है—बल्कि अच्छा और सही विशेषण भी यहां अतिरिक्त है, क्योंकि मनुष्य होने का मतलब ही उन योग्यताओं से सम्पन्न होना है जो उसे अन्य जीवों से, पशुओं से अलग करती हैं और उसे मानवत्व के अर्जन की दिशा में प्रेरित करती है।

जीवविज्ञान की दृष्टि से देखें तो मनुष्य और पशु में उसी प्रकार का अन्तर है जैसा एक पशुजाति और दूसरी पशुजाति में होता है। वह 'होमोसपियन' जाति का पशु है, यानी एक अलग किस्म का मानवपशु। इस परिभाषा में भी रहता वह पशु ही है। तब ऐसा क्यों है कि हम उससे एक अलग तरह के आचरण की अपेक्षा करते हैं? जब वह पशुवत् आचरण करता है तो हमें क्यों क्षोभ होता है? इससे स्पष्ट है कि जैविक विशेषताओं से अलग कुछ ऐसी आचरणगत विशेषताएँ और है जो उसे पशुत्व से बुनियादी तौर पर अलग करती और मानव बनाती है।

ये विशेषताएँ क्या है? मानवीय समझी जाने वाली सभी आचरणगत विशेषताओं को गहराई से जाकर देखें तो जो बातें मनुष्य को बुनियादी तौर पर दूसरे प्राणियों से अलग करती दीखती है वे हैं उसकी विचारशीलता और उसमें निहित सृजनशीलता। ये दोनों गुण किसी पशु में नहीं पाये जाते—किसी अन्य जीव में भी नहीं। पक्षियों द्वारा घोंसला बनाना अथवा पशुओं द्वारा माँद आदि बना लेना एक सहज जैविक वृत्ति के अन्तर्गत आते है सुविचारित सृजन के अन्तर्गत नहीं। पशु और अन्य मनुष्येतर प्राणियों में इसीलिए जो क्रियाएँ सहज होती हैं वे भी मानवीय जीवन में एक प्रकार के मूल्यबोध से अनुप्राणित और अनुशासित होने लगती है क्योंकि विचारशीलता और

सजनशीलता मिलकर मानव जीवन के सभी पक्षों—उसके प्राकृतिक कार्य व्यापार से लेकर सामाजिक व्यवहार तक म—एक उत्तरदायित्व का बोध विकसित करती है। यह उत्तरदायित्व उन मूल्यों के प्रति होता है जिन्हें स्वयं मनुष्य की चेतना ने सिरजा है, अत यह उत्तरदायित्व उसकी अपनी चेतना के प्रति उत्तरदायित्व ही है और यही वात है जो उसके आचरण को अथवत्ता या सार्थकता देती है उसे मानव बनाती है। इस प्रकार मानव होने का अथ है चेतना सम्पन्न, सजनशील और उत्तरदायी होना। दूसरे शब्दों म यह भी कह सकते हैं कि मनुष्य एक सजनशील चेतना सम्पन्न उत्तरदायी प्राणी है। स्पष्ट है कि मनुष्य नामक जविक प्राणी म इन गुणों का विकास ही उसे वास्तविक अर्थों मे मानव का दर्जा देता है। यह भी कह सकते हैं कि मनुष्य म ये गुण जितने विकसित होते जाते है उतना ही वह पूर्ण मानव होता जाता है। इसलिये मनुष्य जीवन का लक्ष्य इन गुणों का अधिकाधिक विकास है।

स्पष्ट है कि हम इन दोनो गुणों को मानवीय मूल्यो का दर्जा देना होगा। मूल्य का सीधा सादा अथ है मनुष्य के आचरण की मूल प्रेरणा और कसौटी यानी वे आदर्श जिनसे वयक्तिक और सामूहिक मानवीय आचरण अनुप्राणित होता है और जिनके आधार पर ही उसका औचित्य निर्धारित होता है। आचरण का क्षेत्र आर्थिक, राजनीतिक सामाजिक कुछ भी हो सकता है, लेकिन यदि उससे इन मूल्यो की पुष्टि नही होती है या इन पर आघात होता है तो उसे उचित नही कहा जा सकता।

चेतना और सजनशीलता के साथ ही दो अन्य बाते भी अनिवायत जुडी हैं बल्कि वे अन्योन्याश्रित है और वे हैं स्वतन्त्रता और सामाजिकता जो अपने से इतर के साथ सम्बन्धविधान का स्थूल रूप है। कुछ लोगो को स्वतन्त्रता और सामाजिकता एक दूसरे का विपयय लग सकती है लेकिन वस्तुत ऐसा नही है। यदि स्वतन्त्रता को हम मूल्य का दर्जा देते है तो फिर वह कोई सुविधा या अधिकार न रहकर एक दायित्व हो जाती है क्योंकि तब सिर्फ अपनी स्वतन्त्रता नही, मानव मात्र की स्वतन्त्रता हमारा इष्ट हो जाती है और इतर की स्वतन्त्रता के लिए सघर्ष करना कही अधिक वाछनीय हो जाता है। इसी प्रकार दूसरे के स्वतन्त्र चेतनासम्पन्न व्यक्तित्व का सम्मान सामाजिकता का ही रूप है। इस प्रकार मनुष्य का सामूहिक जीवन पशुओं म पाये जाने वाले सामूहिक जीवन से भिन्न एक सामाजिकता म विकसित होने लगता है क्योंकि उसका आधार एक मूल्यबोध या दायित्व बोध हो जाता है। तभी स्वतन्त्रता निजी लाभ के लिए निरकुश आचरण के रूप म नही बदल पाती और सामाजिकता किसी जविक मजबूरी के तहत

साथ जीवन बिताने की विवशता नहीं, अपने और इतर के बीच एक सृजनात्मक सम्बन्धविधान हो जाती है।

इस प्रकार चेतना, स्वतन्त्रता सृजनशीलता और सामाजिकता ऐसे चार आधार-स्तम्भ हो जाते हैं जिन पर मानव जीवन की इमारत खड़ी होती है। इन मूल्यों के आधार पर विकसित मानवीय आचरण का औचित्य स्वयं प्रमाण है। इन प्रवृत्तियों के पुष्ट और विकसित होने का तात्पर्य जीवन और अस्तित्व मात्र का पुष्ट और विकसित होना है क्योंकि जीवन, जो स्वयं सबसे बड़ा मूल्य है इन्हीं मूल्यगत प्रवृत्तियों में विकसित होता है। अपने विभिन्न पक्षों में मानवीय जीवन कहां तक सही दिशा की ओर उन्मुख है, इसकी एक मात्र कसौटी यही हो सकती है कि मानवीय स्वतन्त्रता, चेतना, सृजनात्मकता और सामाजिकता की भावनाएँ कहां तक पोषित होती है। इन प्रवृत्तियों का पोषण जितना अधिक होता जाता है, हम मानव में निहित सम्भावनाओं को भी उतना ही अधिक उजागर करते हैं। सभी मानवीय रिश्तों और संस्थाओं का अंतिम उद्देश्य इन मूल्यों का पोषण करना ही है और यदि वे ऐसा नहीं करते हैं तो वे समाज के सही विकास में सहायक होने की बजाय बाधा बन जाते हैं। कई बार उनका वास्तविक उद्देश्य तो विकास में सहायक होना ही होता है लेकिन ऐतिहासिक विकृतियों की वजह से वे मनुष्य के दमन शोषण और अवमानना का कारण बन जाते हैं। हमारी राजनीति और सामाजिक आर्थिक व्यवस्था को, जिसका उद्देश्य मानव जीवन की बेहतरी है, तभी वाछनीय समझा जा सकता है जब वे इन मूल्यों से अनुप्राणित हों और अपने आचरण द्वारा इन्हें पुष्ट करें-अन्यथा एक व्यवस्था तो हम चीटियों और मधुमक्खियों में भी मिल जाती है पर उसे मानवीय नहीं कहा जा सकता।

राजनीतिक या सामाजिक आर्थिक प्राणी होने से पहले मनुष्य एक नैतिक प्राणी है। कोई राजनीति या सामाजिक आर्थिक शक्ति यदि समाज में बेहतर बदलाव के लिए प्रयत्नशील है तो वह एक नैतिक कोशिश है-एक ऐसी नैतिक कोशिश जिसकी प्रेरणा मनुष्य के अस्तित्व में ही निहित है। इसलिए निरन्तर यह ध्यान रखने की आवश्यकता है कि हम अपनी मूल्यप्रेरणा और सामाजिक आर्थिक राजनीतिक आचरण में संगति रख पायें। नैतिकताविहीन आचरण का मूल्यांकन सफलता के आधार पर होता है, सार्थकता के आधार पर नहीं। जीवन एक समग्र प्रक्रिया है-उस का कोई पक्ष दूसरे पक्ष से जुदा या कटा हुआ नहीं है। यदि हम मानव का उद्देश्य यह मानते हैं कि विभिन्न क्षेत्रों में और सभी स्तरों पर वह उन मूल्यों की प्रतिष्ठा करेगा जो स्वयं उसकी

मानता है तो हमें अपनी राजनीति, अर्थव्यवस्था और समाजरचना को तदनुकूल विकसित करना होगा। यदि कोई समाज, सरकार या संगठन ऐसा नहीं करता है तो वह सही अर्थों में मानवीय और नैतिक समाज नहीं है। क्या हम देखेंगे कि हम किस सीमा तक इस दिशा में सचेष्ट हैं?

राजनीतिक आचरण की कसौटी

एक सभ्य समाज से सामान्य तौर पर यह अपेक्षा की जाती है कि उसका राजनीतिक व्यवहार भी सभ्य अर्थात् वैधानिक और लोकतान्त्रिक हो। सभ्यता के विकास का एक तात्पर्य मनुष्य समाज में अहिंसामय आचरण का विकास भी है, इसलिए यह अपेक्षा सहज और स्वाभाविक है। जब कभी भी जनसामान्य या किसी विशेष वर्ग द्वारा किन्हीं मांगों को मनवाने के लिए दबाव डाला जाता या आन्दोलन किये जाते हैं तब सत्ता द्वारा—चाहे उसका रूप राजनैतिक, आर्थिक या धार्मिक कुछ भी हो—सदैव वैधानिकता का आग्रह किया जाता है और अक्सर इस वैधानिकता का तात्पर्य सत्ता पक्ष की मन्शियत या इच्छा हो जाता है, क्योंकि अन्ततः सत्ता का समर्थन ही किसी बात को वैधानिकता प्रदान करने के मान्य तरीके के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसलिए राजनीतिक आचरण के क्षेत्र में वैधानिकता और लोकतान्त्रिकता या अहिंसक आचरण का भेद समझ लेना जरूरी है क्योंकि अहिंसा और लोकतन्त्र तो सदैव एक ही सिक्के के दो पहलू हैं लेकिन वैधानिकता कई बार लोकतन्त्र की विरोधी भी हो सकती है। किसी भी लोकतान्त्रिक आन्दोलन या प्रदर्शन को अवैध घोषित करना किसी सरकार का वैधानिक अधिकार हो सकता है लेकिन ऐसा कदम अनिवार्यतः लोकतान्त्रिक नहीं कहा जा सकता—यदि मूल्यगत स्तर पर देखा जाए तो अक्सर वह लोकतन्त्र विरोधी ही होता है क्योंकि बहुमत की ही नहीं किसी एक भी व्यक्ति की आवाज़ को दबाने का कोई भी प्रयत्न अनिवार्यतः एक लोकतन्त्र विरोधी प्रयत्न है। असहमति का अधिकार लोकतन्त्र का एक बुनियादी गुण है लेकिन किसी को अपनी राय व्यक्त करने से रोकना या किसी की बात को इसलिए न सुनना कि वह हमारी मान्यता के अनुकूल नहीं है, लोकतन्त्र का अपमान है।

जब हम सभ्य समाज की बात करें, तब यह समझ लेना जरूरी है कि समाज में सिर्फ शासित और सामान्य जन ही नहीं वह वर्ग भी सम्मिलित होता है जिसे हम शासक या सुविधा सम्पन्न विशिष्ट वर्ग कहते हैं। इसलिए समाज से सभ्य आचरण की आशा करते समय यह जानना भी निहायत आवश्यक हो जाता है कि हम शासक, सत्ता सम्पन्न या सुविधाजीवी विशिष्ट वर्ग का

अपना व्यवहार वास्तविक अर्थों म कितना सभ्य और सुसस्कृत है और वह अपने आचरण मे किस सीमा तक लोकतान्त्रिक और अहिंसक है।

हिंसा का दायरा यदि सिफ दहिक सीमा तक ही व्याप्त है तब तो इस वग के आचरण को अहिंसक ही मानना हागा क्याकि आधुनिक समाजो म यह वग अपने स्वार्थों का पोषण बहुत सूक्ष्म तरीका से करता है और यदि कभी हिंसा का प्रयोग आवश्यक होता भी है ता वह राज्य अथवा कानून के माध्यम से किया जाता है। इस प्रकार इस वग की हिंसा वधानिक या कानूनी हिंसा होती है और इसलिए सामान्यतया सभ्य आचरण के अतगत ही स्वीकार की जाती है। सामान्यतया अहिंसा का अथ बहुत एकागी समझा जाता है—शायद इसलिए कि वही उस वग के अनुकूल पडता है जो शासन अथतन्त्र और समाज पर हावी है। यह वह वग है जो हिंसा को केवल स्थूल अर्थों म ग्रहण करता है—लेकिन हिंसा सिफ दहिक नही होती—वह तो उसकी सर्वाधिक स्थूल अभिव्यक्ति है। बुनियादी अथ म तो वह हर भावना और चेष्टा हिंसा है जो व्यक्ति मानव और इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति सहित सम्पूण मानवीय चेतना की सजनात्मक सम्भावनाओ की अभिव्यक्ति और विकास का दमन करती या उसमे बाधा पहुँचाती है। सजनात्मकता का दमन या उसके प्रति उदासीनता भी हिंसा की सूक्ष्मतर और इसीलिए गुरुतर अभिव्यक्ति है।

इसीलिए अहिंसा की धारणा के समथक किसी भी प्रकार के उत्पीडन, दमन और शोषण को हिंसा की सना दत है। इसलिए यदि कानून और सत्ता के विभिन्न प्रकार कथित अहिंसक आचरण की आड मे किसी भी प्रकार के शोषण, दमन और उत्पीडन का बनाय रखना चाहत हैं तो निश्चय ही उस किसी भी अवस्था मे सभ्य आचरण नही कहा जा सकता। अपने स्वार्थों या शोषणमूलक व्यवस्था पर आघात होत ही यह वग जिस प्रकार राज्य और कानून को हिंसक रूप ग्रहण करने के लिए बाध्य करता है उसी से इसके सभ्य आचरण की असलियत खुलकर सामन आ जाती है।

इसलिए सवाल उठता है कि सामाजिक उत्पीडन आर्थिक शोषण और राजनीतिक दमन स ग्रस्त समाज यदि अपने बचाव म हिंसा का सहारा लेता है ता उस सभ्य आचरण क्या नही माना जाय ? यह बहुत उलझा हुआ सवाल है और इसका कोई भी आसान उत्तर नही दिया जा सकता—बल्कि शायद हर परिस्थिति म इसका कोई एक उत्तर हो भी नही सकता और विभिन्न परिस्थितियों मे विश्लेषण और आवश्यकता पर ही इसका उत्तर निभर करता है। इसम कोई सन्देह नही कि हिंसा एक दुष्चक्र है क्योकि उसकी भित्ति घृणा पर खडी है और इसलिए एक दफा उस दुष्चक्र म फस जाने पर आसानी स

उससे निस्तार सम्भव नहीं है, इसलिए जहाँ तक सम्भव हो शोषित वर्ग का राजनीतिक आचरण भी अहिंसक प्रणालियों पर ही आधारित होना उचित है। लेकिन कई बार ऐसा अवसर भी उपस्थित हो सकता है जब अहिंसा कारगर नहीं होती क्योंकि अहिंसा भी तभी कारगर होती है जब प्रतिपक्ष में भी नैतिक और मानवीय मूल्यों के प्रति किसी स्तर पर कोई आकर्षण बना हो। पूर्ण बर्बरता के सम्मुख या लोकतन्त्रात्मक विरोध के सारे रास्ते एकदम बन्द कर देने पर आवश्यक सीमा तक अहिंसक तरीकों का परित्याग बचाव की क्रिया ही माना जायेगा—उसे हिंसा नहीं माना जाना चाहिए क्योंकि हिंसा मूलतः एक आक्रामक मनोवृत्ति है। हम शल्य चिकित्सक के चाकू और कातिल के चाकू को एक ही श्रेणी में नहीं रख सकते क्योंकि दोनों के मनोभावों में बुनियादी फर्क है। एक का मनोभाव दूसरे पक्ष को जीवन देने वाला है और उसमें करुणा प्रमुख है जबकि दूसरे का मनोभाव आक्रामक और क्रोध व घृणा से भरा है। कुछ आधुनिक विचारक मानते हैं कि शोषित की घृणा उसे संगठित करती और हिंसा उसमें आत्मविश्वास पैदा करती है। लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि घृणा और आक्रामकता के मनोभाव अपने को पहचानने और मानवत्व के अर्जन में बाधक होते हैं। ऐसे मनोभावों के आधार पर किसी स्वस्थ समाज की नींव नहीं रखी जा सकती।

इसलिए जरूरी यह है कि यदि कभी हिंसा का सहारा लेना भी पड़ जाये—यद्यपि अपवाद रूप में ही और वह भी अहिंसक और लोकतान्त्रिक रास्ता के पूर्णतया बन्द कर दिये जाने पर—तो उसकी पृष्ठभूमि में घृणा की वृत्ति नहीं होनी चाहिए। वह हिंसा शल्य चिकित्सक की हिंसा ही हो, कातिल की नहीं। लोकतान्त्रिक पद्धति से कानून का सहारा लेकर भी शोषण-उत्पीड़न को मिटाया जा सकता है और कानून या राजसत्ता के दबाव को भी हिंसा माना जा सकता है लेकिन यदि आक्रामकता के भाव के साथ नहीं बल्कि बचाव के साधन की तरह इस्तेमाल किया जाय तो उसे हिंसा कहना अनुचित होगा। हिंसा मूलतः एक मनोवृत्ति है जब यदि कर्म उस मनोवृत्ति से प्रेरित न होकर सुधार या करुणा की भावना से प्रेरित है तो उसे सभ्य आचरण की परिधि में ही स्वीकार करना होगा। राजनीतिक आचरण में भी हिंसा अहिंसा के सवाल को इसी कसौटी पर परखना उचित होगा। तभी राजनीतिक आचरण मानवीय चेतना के विकास में कोई सार्थक भूमिका अदा कर सकता है।

राजनीतिक रिश्ते की आधारभूमि

राजनीति के सम्बन्ध में विचार विमर्श करते हुए अक्सर यह मान लिया जाता है कि उसका संस्कृति से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। अधिकांशतः राज्य को या तो एक 'आवश्यक बुराई' कहकर स्वीकार किया जाता है या उसकी इतनी प्रशंसा की जाती है जैसे वह इस लोक में ईश्वर का साक्षात् रूप हो। आधुनिक कहे जाने वाले बहुत से राजनीतिवेत्ता खासतौर से व्यवहारवादी विश्लेषक न केवल राज्य के आचरण का अध्ययन उसकी दैनिक कार्य प्रणालियों और सत्ता-राजनीति के आधार पर करते हैं बल्कि इन्हीं आधारों पर राज्य के कार्यों और राजनीति की मूल्यहीनता का औचित्य भी सिद्ध करते हैं। अक्सर यह कहा जाता रहा है कि सत्ता में आने, बने रहने और सत्ता का प्रबन्ध कर सकने के लिए कुछ व्यावहारिक सीमाओं को मानना आवश्यक है लेकिन यह भुला दिया जाता है कि व्यावहारिक सीमाओं के नाम पर यदि उन बुनियादी मानव मूल्यों की ही अवहेलना या दमन हो रहा है जिनके पोषण के लिए राज्य को एक अनिवार्य बुराई होते हुए भी स्वीकार किया गया है तो इस तरह की व्यावहारिकता क्योंकि अपना वास्तविक प्रयोजन पूरा करने में पूर्णतया असफल रहती है इसलिए उसे स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। किसी बात का घटित होना या होते रहना उसके होने की वांछनीयता प्रमाणित नहीं करता। हम उसके कारणों का विश्लेषण कर उसे समझने की कोशिश करते हैं तो इसलिए नहीं कि उसके औचित्य की आधारभूमि तलाश करें बल्कि इन कारणों की समझ हमें उसमें से अवांछित को मिटाने और उसे अपनी वांछित दिशा में मोड़ दे सकने का बुनियादी सामर्थ्य देती है।

भारतीय परम्परा में राज्य को अनिवार्य बुराई मानकर उसकी अवहेलना नहीं की गयी। यह माना जाता रहा कि राज्य यानी सत्तासम्पन्न एक व्यवस्था सामाजिक सुरक्षा और विकास के लिए एक अनिवार्य संस्था है और वह वस्तुतः एक अनिवार्य बुराई नहीं बल्कि एक अनिवार्य हितैषी संस्था है। इसीलिए कौटिल्य अर्थशास्त्र या शान्ति पर्व में राज्य का अस्तित्व भौतिक और नैतिक आध्यात्मिक विकास के लिए आवश्यक स्वीकार किया गया है। शासन व्यवस्था का काम यह है कि इस उद्देश्य की पूर्ति की व्यावहारिक

ज़िम्मेदारी राज्य पर छोडते हुए भी तत्सम्बन्धी दिशा निर्धारण का काय राज्य पर नही छोडा गया है। यह काय धम का है—यहा धम किसी सम्प्रदाय विशेष के अथ म नही बल्कि एक जीवन पद्धति और एक नियमसहिता यानी सविधान के अथ मे है। राज्य को धम के शासन से ऊपर नही माना गया है। दूसरे शब्दो मे, यह स्वीकार किया गया है कि राज्य का ऐसा वातावरण तैयार करना है जिसमे नागरिको का भौतिक नतिक विकास हो सके लेकिन उसे इसमे सीधे हस्तक्षेप नही करना है।

आधुनिककाल मे राज्य के अधिक शक्तिशाली होते चले जाने के कई कारण हैं—लेकिन एक महत्त्वपूण कारण राज्य को नागरिको की स्वीकृति भी है। अधिनायकवादी व्यवस्था की बात फिलहाल छोड दें क्योंकि वह गुडई का ही एक विकसित और सूक्ष्म रूप है—उसका नतिक आधार भौतिक शक्ति है, नागरिको की सहमति नही। प्राचीन राजतन्त्रीय व्यवस्था को भी नागरिको की एक प्रकार की परोक्ष स्वीकृति रहती थी क्योंकि तब उसकी शक्ति का, उसके प्रति श्रद्धा का स्रोत धम था और उस धम व्यवस्था को समाज की स्वीकृति रहती थी। लेकिन आधुनिक काल मे अधिनायकवाद का कोई भी प्रकार इस तरह का नतिक औचित्य प्रमाणित नही कर सकता क्योंकि सेना के अन्धे बल के अतिरिक्त उसका कोई स्रोत नही है, इसलिए अधिनायकवादी राज्य का कोई नतिक औचित्य प्रमाणित नही होता। समाजवादी उद्देश्यो का दावा करने वाली और कुछ हद तक उसे अन्य व्यवस्थाओ की अपेक्षा व्यावहारिक रूप देने म अग्रणी व्यवस्था का अधिनायकत्व भी नतिक दृष्टि से सन्दिग्ध ही रहता है क्योंकि उसकी नीति और काय प्रणाली को भी कोई स्पष्ट सामाजिक स्वीकृति नही मिलती। यह मान लिया जाता है कि राज्य उनके लाभ के लिए काम करता है, इसलिए वह नागरिको को स्वीकार होगा ही। लेकिन इस विकास की—और समाज का विकास भौतिक सुविधाओ का ही नही, चेतना का विकास है, बल्कि भौतिक सुविधाएँ भी तभी वाछनीय है जब वे चेतना के विकास मे सहायक हो—वास्तविक नीति और प्रक्रिया के निर्धारण म नागरिको का खुल रूप से भाग लेने का अवसर देना वाछनीय नही समझा जाता। इस कारण अन्तत राज्य और नागरिक का रिश्ता किसी मूल्यगत और नैतिक स्तर पर नही बल्कि सत्ता के समक्ष विवशता के स्तर पर ही बना रहता है। लेकिन यह कहना भी गलत होगा कि स्वय को लोकतान्त्रिक कहने वाली व्यवस्था का आधार सदव सामाजिक स्वीकृति ही होता है। निस्सन्देह इस सामाजिक स्वीकृति का एक वधानिक या औपचारिक रूप तो उनम बना रहता है—लेकिन इस स्वीकृति को वास्तविक अर्थों म नतिक स्वीकृति कहाँ तक कहा जा सकता है? इसे लेकर सन्दिग्धता

बनी रहती है कि वर्तमान लोकतांत्रिक पद्धतियों में क्या वस्तुतः लोकेच्छा व्यक्त हुई है ? क्या एक निश्चित अवधि के लिए चुनी गयी सरकार के प्रत्येक काम को उसके चुनने वालों का नैतिक समर्थन प्राप्त है ? यदि नहीं है तो उस सरकार को सदैव एक नैतिक व्यवस्था के रूप में किस तरह स्वीकार किया जा सकता है ? और यदि व्यवस्था का अपना स्वरूप नैतिक नहीं है तो नागरिक से यह अपेक्षा कहाँ तक संगत है कि वह राज्य की प्रत्येक नीति को स्वीकार कर लेगा और अपने आचरण को उसके अनुसार ढालने का प्रयत्न करेगा ? और यदि इस नैतिक आश्वस्ति के बिना भी राज्य समाज पर अपनी आकांक्षा लादता है तो क्या वह ऐसा सिर्फ सैनिक शक्ति के आधार पर ही नहीं करता ? दूसरे शब्दों में, ऐसी परिस्थिति में वास्तविक सामाजिक स्वीकृति के अभाव में लोकतांत्रिक औपचारिकताओं के बावजूद राज्य और समाज के रिश्ते की वास्तविक आधारभूमि अनैतिक या अधिक से अधिक नैतिकता निरपेक्ष ही रहती है।

इसी के साथ जुड़ा हुआ एक प्रश्न यह भी है कि यदि राज्य मानवीय चेतना के विकास का ही एक उपकरण है और इसीलिए उसकी नीति और प्रक्रिया का निर्धारण सामाजिक स्वीकृति के ही आधार पर होना चाहिए तो यह भी देखना होगा कि इस प्रक्रिया पर सामाजिक नियन्त्रण केवल औपचारिक नहीं बल्कि वास्तविक हो। यह भी देखना होगा कि मानवीय विकास के लिए बनायी गयी व्यवस्था के समक्ष वही मनुष्य अपने को बौना या तुच्छ न महसूस करने लग जाय जिसका विकास ही इस व्यवस्था के अस्तित्व का प्रयोजन है। अक्सर होता यह है कि राज्य में शक्ति और सत्ता का अधिकाधिक केन्द्रीकरण नागरिक को राजकीय संस्थानों के समक्ष कमजोर बनाता और अपमानित करता है। यदि एक सामान्य नागरिक पुलिस और कचहरी की तो बात दूर, अस्पताल और यात्रा आरक्षण जैसे दफ्तरों में भी स्वयं को बौना, उपेक्षित और अपमानित महसूस करने लगे, तो सोचना होगा कि उस व्यवस्था को कहाँ तक वास्तविक और नैतिक आधारों पर लोकतन्त्र कहा जा सकता है—क्योंकि सत्ता का वास्तविक स्रोत लोक है और वही वहाँ उपेक्षित और अपमानित है। यह सिर्फ कर्मचारियों के व्यवहार का ही नहीं लोकतन्त्र को एक महाकाय यन्त्र बना देने का परिणाम है। लोकतन्त्र मानवीय विकास के लिए वांछनीय होने के कारण स्वीकार्य समझा जाता है—लेकिन यदि उसका व्यावहारिक रूप गरिमा का दमन करता हो और मनुष्य को एक चेतनासम्पन्न स्वतन्त्र व्यक्तित्व समझने की बजाय उसके साथ संवेदनाहीन व्यवहार करता और उसे एक यन्त्र का पुर्जा बना डालने पर जोर देता हो तो उसके कारणों को समझना और उसके निराकरण की दिशा में सचेष्ट होना हमारी राजनीति की एक वांछनीय अनिवार्यता होनी चाहिए।

वास्तविक लोकतन्त्र के लिए

आधुनिक काल म राजसत्ता का मूल स्रोत नागरिका का विश्वास आर स्वीकृति है इसलिए यह आवश्यक है कि राजसत्ता इस मूल आधार से विच्छिन न हो अन्यथा इसका तात्पय सत्ता का निरन्तर उत्तरदायित्वहीन और धीरे धीरे मानवीय मूल्यो से उदासीन और आततायी होते जाना होगा। लोकप्रतिनिधिया के सावधि चुनाव और ससदीय लोकतन्त्र इसी मूल आधार को बनाये रखने की दिशा मे किये जाने वाले प्रयत्न हैं। लेकिन इन सस्थाओ का सारा इतिहास इस बात का आश्वासन नही दे सकता कि ये नागरिका के अधिकारा की रक्षा करने मे पूण समथ है बल्कि अक्सर ऐसा हुआ है कि इन सस्थाओ का स्वरूप और प्रकृति सारी वधानिक औपचारिकताओ के बावजूद निरकुशता के करीब आते गये है। इसीलिए यह आवश्यक समझा जाने लगा है कि ग्राम स्तर तक सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया जाय ताकि राज्य से नागरिक का अधिकाधिक प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित हो सके और राजनतिक निणया को वह अधिकाधिक प्रभावित कर सके। लेकिन यह विकेन्द्रीकरण भी तभी साथक हो सकता है, जब इसकी सवधानिक गारटी हो और देश की सर्वोच्च सस्था को भी इसके बुनियादी ढाचे और अधिकारो मे किसी प्रकार का परिवतन करने का अधिकार न हो। इसस सम्बन्धित व्यवस्थाएँ विचार विमश के द्वारा तय की जा सकती है।

लेकिन इसकी सफलता भी इस बात पर अधिक निभर करती है कि सावधि चुनाव के आधार पर निर्वाचित प्रतिनिधिया को भी एक निश्चित अवधि के लिए अबाध अधिकार न द दिये जाये और कोई ऐसी विधि विकसित की जाये जिसके द्वारा उन पर निरन्तर प्रभावी नियन्त्रण कायम रखा जा सके। स्थानीय स्तर से लेकर प्रादेशिक और राष्ट्रीय स्तर तक ऐसी नागरिक समितिया का गठन किया जा सकता है जो स्वय विधिनिर्माण और कायपालिका सम्बन्धी काय न करती हा लेकिन किये गये कार्यो की समीक्षा कर सके और आवश्यकता पडने पर अपने इलाके के निर्वाचित प्रतिनिधिया को उचित निर्देश भी दे सके। इस तरह की समितियो का गठन केवल भौगोलिक ही नही बल्कि आर्थिक और सास्कृतिक आधार पर भी होना चाहिए ताकि सभी

प्रकार के हितो का वास्तविक प्रतिनिधित्व हो सके । इन समितियो को अपने इलाके के प्रतिनिधि को वापस बुलाने का अधिकार भी दिया जा सकता है- इस शर्त के साथ कि यदि पुन उसी प्रतिनिधि मे जनता द्वारा विश्वास प्रकट किया गया तो सम्बंधित समिति स्वयमेव भंग समझी जायगी और इसका गठन दुबारा किया जायेगा । इस तरह की व्यवस्था से जहाँ निर्वाचित संस्थाओ पर लोक नियन्त्रण बना रह सकेगा, वही इस व्यवस्था का दुरुपयोग भी कम से कम हो सकेगा । इस समिति के सदस्यो के लिए यह आवश्यक होना चाहिए कि वे किसी दल विशेष से सक्रिय रूप से न जुडे हो । इस समिति के चुनावो के समय कोई दल कोई निर्देश जारी नही कर सकेगा, इसका भी संवैधानिक व्यवस्था की जानी जरूरी होगी ।

दरअसल लोकतन्त्र ठीक तरह से काम कर सके, इसके लिए नागरिको और उनके प्रतिनिधियो का राजनैतिक दलो से मुक्त होना आवश्यक है । किसी युग मे राजनैतिक दलो ने लोकतान्त्रिक प्रणाली के विकास मे रचनात्मक भूमिका निभायी भी हो तब भी अब वे धीरे धीरे ही सही उसके क्रियान्वयन मे बाधा ही अधिक होते जा रहे है । आधुनिक समाजो का विकास जिस तरह से हो रहा है उसमे किसी भी राजनीतिक दल के लिए यह सम्भव नही रह गया है कि वह एक छोटी सी अवधि मे पूरे समाज के लिए सही राजनीतिक निर्णय ले सके । प्रत्येक सरकार एक निश्चित अवधि के लिए चुनी जाती है-इसका एक सीधा मतलब क्या यह नही है कि लोकतान्त्रिक नैतिकता के अनुसार किसी भी सरकार को ऐसे निर्णय लेने का अधिकार नही होना चाहिए जिसका प्रभाव उस निश्चित अवधि से आगे भी पडता हो ? लेकिन क्या व्यवहारत ऐसा सम्भव है ? इसी तरह प्रत्येक राजनीतिक दल को चुनाव घोषणा पत्र के आधार पर चुना जाता है लेकिन उसके शासन की अवधि के दौरान ऐसे भी बहुत से मामले आते हैं जिनका कोई उल्लेख चुनाव घोषणा पत्र मे नही किया गया होता है-बल्कि सभी मामलो का उल्लेख किया जाना सम्भव भी नही है-तो ऐसी स्थिति मे यदि सरकार कोई निर्णय लेती है तो उसे कहाँ तक लोकेच्छा को प्रतिबिम्बित करने वाला कहना उचित समझा जायगा ? इसी के साथ यह भी ध्यान रखना जरूरी है कि कई दफा बहुत सी सरकारो द्वारा कुछ ऐसे निर्णय ले लिए जाते है और कुछ योजनाओ पर इतना अधिक व्यय कर दिया जाता है कि उन्हे बदलना या रोक देना किसी ऐसे दल के लिए भी सम्भव नही रहता जो सम्बंधित निर्णय या योजना से पूरी तौर पर असहमत हो ।

इसके लिए आवश्यक है कि महत्त्वपूर्ण और नीति सम्बन्धी बुनियादी मसलो पर समय-समय पर जनमत संग्रह के द्वारा आम राय जानी जाय और निर्वाचित

सरकार उसी के आधार पर अपने निर्णय ले। एक निश्चित अवधि के लिए निर्वाचित सरकार को ऐसे निर्णय लेने का अधिकार नहीं मिलना चाहिए जिनके आधार पर उस सरकार के हटने के बाद भी उसकी नीतियां जारी रह सकें। कुछ बुनियादी और जरूरी बातों के लिए नीति सम्बन्धी निर्णयों का उल्लेख संविधान में ही कर दिया जाना उचित है ताकि उन पर अपने शासन के दौरान कोई भी राजनैतिक संगठन अलग अलग निर्णय न लें—बल्कि सभी संविधान में निहित नीति का ही सम्मान करें। इस सम्बन्ध में कोई भी परिवर्तन जनमत संग्रह के आधार पर ही किया जाना उचित है।

सवाल उठाया जा सकता है कि इस प्रकार बार बार जनमत-संग्रह करवाना बहुत व्ययसाध्य है। लेकिन यहाँ यह भूला जा रहा है कि ऐसी व्यवस्था सत्ता के विकेन्द्रीकरण के साथ साथ ही लागू की जा सकती है क्योंकि तब बहुत से स्थानीय मसलों पर आम राय प्राप्त करना महंगा नहीं पड़ेगा और न हर आम राय का गोपनीय होना ही जरूरी होगा।

वर्तमान व्यवस्था में राजनीतिक दलों की कोई विशेष सार्थकता नहीं रह गयी है क्योंकि उनका प्रधान लक्ष्य मानवीय चेतना के विकास में कोई सार्थक राजनीतिक भूमिका अदा कर सकने की बजाय सत्ता पर अधिकार करना अधिक हो गया है। सत्ताकांक्षा के इस खेल के सभी नियमों को मानना प्रत्येक राजनैतिक दल की मजबूरी बनता जा रहा है और उसी का एक परिणाम यह हो रहा है कि प्रत्येक राजनीतिक दल की संस्कृति करीब करीब एक जैसी होती जा रही है। सभी के साधन एक जैसे हैं, अतः साध्य पर भी उनका असर पड़ना स्वाभाविक है। इसलिए ऐसा लगने लगा है कि राजनीतिक दल किसी मानवीय मूल्य की राजनीतिक स्वीकृति के लिए प्रयत्नरत संगठन होने की बजाय सत्ताकांक्षी लोगों के गिरोह अधिक हो गए हैं। शायद यही कारण है कि अपने समय की प्रतिभा राजनीति की बजाय विज्ञान, साहित्य और अन्य क्षेत्रों की ओर अधिक उन्मुख है क्योंकि वर्तमान राजनीतिक संस्कृति का उसके साथ कोई रचनात्मक सम्बन्ध नहीं बनने पाता। इसलिए जहाँ एक ओर लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण और निर्वाचित प्रतिनिधियों पर निरन्तर नियन्त्रण आवश्यक है, वहीं साथ ही यह भी जरूरी है कि राजनीतिक दलों की इस पतनशील स्थिति को पहचाना जाये और उसका निराकरण कर एक समग्र राजनैतिक व्यवस्था विकसित करने की ओर अग्रसर हुआ जाए।

सत्ता का विकेन्द्रीकरण

राज्य समाज में विभिन्न सत्ता संस्थानों में से एक है लेकिन आधुनिक काल में यह सर्वाधिक शक्तिशाली सत्ता-केन्द्र हो गया है—चूंकि अन्य सत्ता संस्थानों और उसके बीच इतना फर्क हो गया है कि प्रत्यक्ष सत्ता संस्थान के रूप में केवल राज्य को ही स्वीकार किया जाने लगा और यह अपेक्षा की जाने लगी कि राज्य अन्य सत्ता संस्थानों को भी निर्देशित अथवा नियन्त्रित कर सकता है। यह ठीक है कि राज्य व व्यावहारिक रूप से सरकार पर अन्य धार्मिक या आर्थिक सामाजिक संस्थाओं का प्रभाव पड़ता रहा है लेकिन सिद्धांततः यही स्वीकार किया गया कि राज्य ही सर्वोच्च सत्ता संस्थान है और इसीलिए दूसरे संस्थानों द्वारा उसको अपने अनुकूल करने के प्रयत्न किये जाते रहे हैं।

आधुनिक जटिल प्रौद्योगिकी पर आश्रित औद्योगीकरण और लोकतान्त्रिक प्रणालियों के आकर्षण के साथ साथ राज्य के सर्वाधिक शक्तिशाली होते चले जाने का एक कारण आधुनिक अस्त्र शस्त्रों का विकास भी है। मध्यकाल तक धर्म राज्य से बड़ा सत्ता संस्थान था और सैनिक विद्या की अजटिलता के कारण राज्य की शक्ति नागरिकों के लिए अपराजेय नहीं थी। लेकिन एक ओर राज्य में शक्ति के सभी प्रकारों का केन्द्रीकरण होता गया और दूसरी ओर आधुनिक सैनिक विद्या और व्यवस्था ने राज्य और नागरिक के बीच एक दुर्भेद्य दीवार खड़ी कर दी। आधुनिक राज्य जनता के लिए अपराजेय हो गया।

इसलिए सरकार के गठन की लोकतान्त्रिक प्रक्रिया ही नागरिकों के लिए राज्य को प्रभावित कर सकने का एक मात्र माध्यम बच रही है। लेकिन इस लोकतान्त्रिक प्रक्रिया ने राज्य को एक नैतिक औचित्य भी प्रदान कर दिया है और धीरे धीरे लोकतान्त्रिक स्वीकृति ने राजनीतिक मामलों में जैसे धर्म का स्थान ग्रहण कर लिया है।

लेकिन आर्थिक केन्द्रीकरण की तरह राजनीतिक केन्द्रीकरण ने भी राज्य के सम्मुख सामान्य नागरिक की स्थिति अत्यन्त दयनीय कर दी है। जिस प्रकार सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था सार्वजनिक संसाधनों के दोहन पर टिकी होते हुए भी

कुछ व्यक्तियों या विशेष वर्ग के लिए ही लाभदायक प्रमाणित हुई है, उसी प्रकार लोकतांत्रिक कही जाने वाली राजनीतिक व्यवस्था भी सभी नागरिकों के लिए न होकर केवल एक विशेष वर्ग के हितों का हथियार बन गयी है। राज्य की विशाल काया के सम्मुख सामान्य नागरिक या स्थानीय छोटे नागरिक-संगठन स्वयं को बौना और असमर्थ महसूस करते हैं। यह आश्चर्यजनक है कि लोकतांत्रिक राज्य भी अपने नागरिकों से—जो कि वस्तुतः उसके स्वामी हैं—आदेश की भाषा में बात करता है। इसी के साथ यह धारणा भी घर करती गयी है कि समाज में कोई भी कारगर परिवर्तन राज्य की इच्छा के बिना नहीं हो सकता और इसलिए राजनैतिक संगठनों का एक मात्र उद्देश्य चेतना का विकास नहीं बल्कि राज्यसत्ता पर अधिकार स्थापित करना हो गया है। इस अधिकार को प्राप्त करने और उसे बनाये रखने की प्रक्रिया इतनी पेचीदी, जटिल और व्ययसाध्य है कि विभिन्न उद्देश्यों वाले राजनीतिक संगठनों की कार्यप्रणाली और साधनों में कोई फर्क नहीं रहता। साधन साध्य को प्रभावित करता है, अतः घोषित उद्देश्यों की भिन्नता के बावजूद सभी प्रकार के राजनैतिक संगठनों का व्यवहार लगभग एक सरीखा हो जाता है।

इसलिए राजनीतिक व्यवस्था में किसी भी तरह का बुनियादी और लोकतांत्रिक परिवर्तन चाहने वाले व्यक्तियों और संगठनों को स्पष्टतया समझ लेना जरूरी है कि राज्य को सत्ता का एक मात्र केन्द्र न होने दिया जाए। इसका तरीका यही हो सकता है कि राज्य के तीनों परम्परागत अंगों—विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका—पर निरन्तर जागरूक नियंत्रण की कोई न कोई ऐसी व्यवस्था विकसित की जाय जो स्वयं सत्ता का केन्द्र न हो पर सत्ता पर अंकुश का काम कर सके। साम्यवादी देशों में साम्यवादी पार्टी इस तरह की भूमिका अदा करती है लेकिन पार्टी की कार्य प्रणाली केन्द्रीकृत नेतृत्व की होती है और उसमें भी सभी नागरिकों की नहीं केवल पार्टी के सदस्यों की ही सहभागिता—और वह भी औपचारिक ही—रहती है, लेकिन ऐसी व्यवस्था में पार्टी स्वयं ही सत्ता का केन्द्र हो जाती है जो कुछ परिस्थितियों में और भी घातक हो सकता है क्योंकि पार्टी का आम नागरिक के प्रति कोई संवैधानिक दायित्व नहीं हो सकता। इस तरह की एकदलीय व्यवस्था में दूसरा खतरा नागरिक स्वतंत्रताओं के दमन का होता है। नागरिक स्वतंत्रता और मानव अधिकारों की वास्तविक स्थापना के बिना कोई भी व्यवस्था—चाहे उसके घोषित उद्देश्य कुछ भी हों और कुछ हद तक वह सार्वजनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सफल हो तब भी—जन-विरोधी हो जाती है। मानव-अधिकारों की, क्योंकि

चेतना के विकास की अनिवार्य शर्त है और कोई राजनीतिक व्यवस्था जिस सीमा तक मानवीय चेतना के विकास में सहायक हो सकती है उसी सीमा तक अपने नैतिक औचित्य को प्रमाणित करती है।

वास्तविक अर्थों में आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था वही हो सकती है जिसमें सत्ता का केन्द्र नागरिक स्वयं हो और राज्य तथा उसके प्रतिनिधियों को सत्ता का हस्तान्तरण एक सीमा तक हो किया जाय—साथ ही उस हस्तान्तरित सत्ता पर भी निरन्तर नियन्त्रण की व्यवस्था हो सके। इस के लिए आवश्यक है कि राज्यसंस्था का यथासम्भव विकेन्द्रीकरण किया जाय। राज्य और नागरिक का जितना अधिक प्रत्यक्ष सम्बन्ध विकसित होगा, राज्य का लोकतान्त्रिक स्वरूप और नागरिक की राजनीतिक सहभागिता और अधिकार उतने ही अधिक पुष्ट हो सकेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों की जटिलता का हवाला देकर अक्सर विकेन्द्रीकरण के विचार का विरोध किया जाता है। स्पष्ट है कि विभिन्न राष्ट्रीय राज्य ही इस विचार का विरोध करते हैं। वास्तव में राष्ट्रीय राज्य स्वयं ही एक तो अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में सबसे बड़ी बाधा हैं और दूसरे सत्ता के विकेन्द्रीकरण को अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों की वजह से अव्यावहारिक बताते हैं। सत्ता का विकेन्द्रीकरण और अन्तरराष्ट्रीयतावाद एक ही सिक्के के दो पहलू हैं और दोनों के लिए राष्ट्रीय राज्य में सत्ता के केन्द्रीकरण का विरोध करना पहली अनिवार्यता है।

लेकिन वर्तमान परिस्थितियों में लोकतान्त्रिक प्रक्रिया के अन्तर्गत सेना यातायात और मुद्राप्रणाली को छोड़कर अन्य सभी क्षेत्रों में सत्ता का ग्राम-स्तर तक विकेन्द्रीकरण करने में कोई कठिनाई नहीं है। आर्थिक और राजनीतिक विकेन्द्रीकरण एक दूसरे से अभिन्न है इसलिए किसी एक को स्वीकार और दूसरे का नकार या तो राजनीतिक चाल होगी या नासमझी। आर्थिक केन्द्रीकरण के समर्थक आर्थिक कारणों से राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का विरोध करते हैं तो राजनीतिक केन्द्रीकरण के समर्थक राजनीतिक आवश्यकताओं की वजह से आर्थिक विकेन्द्रीकरण को अव्यावहारिक बताते हैं। जब तक दोनों को साथ और अभिन्न मानकर नहीं देखा जायगा तब तक दोनों पक्षों की आपत्तियां केन्द्रीकरण की कृत्रिम आवश्यकता को वास्तविक प्रमाणित करती रहेंगी।

असहयोग और राज्य

राज्य के सम्बन्ध मे अक्सर यह कहा जाता रहा है कि वह संगठित हिंसा है और यह कहना पूर्णत गलत भी नही है–और इसीलिए अहिंसक राजनीति के बहुत से समर्थक इस निष्कर्ष तक पहुँच जाते है कि सामाजिक, आर्थिक परिवर्तन के उद्देश्य से राज्य शक्ति का प्रयोग करना अहिंसा की दृष्टि से वाछनीय नही है। इसका सीधा सा तात्पर्य यह होता है कि सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन के लिए हृदय परिवर्तन ही एकमात्र समुचित उपाय है और राज्य या कानून के आधार पर किसी भी प्रकार का परिवर्तन हिंसा का सहारा लेकर किया गया परिवर्तन समझा जाना चाहिए।

इस तर्क प्रणाली को स्वीकार कर लेने पर तो राज्य अथवा कानून ही नही ऐसी किसी भी संस्था को संगठित हिंसा का ही एक प्रकार मानना होगा जो अपने सभी सदस्यो के लिए कोई भी एक सा नियम बनाती है। यही नही अपने सिद्धान्तो या मागो को स्वीकार करवाने के लिए किया गया कोई भी शान्तिपूर्ण और अहिंसक आन्दोलन भी तब प्रकारान्तर से हिंसा ही माना जायगा क्योकि वह भी दूसरे पक्ष को किसी न किसी स्तर पर अपनी मागे–चाहे वे कितनी भी उचित क्यो न हो–स्वीकार करने के लिए बाध्य करता है।

लेकिन देखा जाये तो यह तर्क प्रणाली पूर्णत निर्दोष नही है। राज्य एक संगठित हिंसा है, यह सिद्धान्त स्वीकार करने से पहले राज्य के स्वरूप और प्रकृति को भी समझना होगा। एक राजतन्त्रीय या अधिनायकवादी राज्य तथा लोकतान्त्रिक विकेन्द्रीकरण को स्वीकार करने वाले राज्य को एक ही स्तर पर नही रखा जा सकता और न किसी भी सिद्धान्त या धारणा को उन पर एक-सा लागू किया जा सकता है। वास्तविक अर्थों मे लोकतान्त्रिक होने पर कोई भी संस्था वह राज्य हो या कुछ और लोकेच्छा की वास्तविक प्रतिनिधि होती है और उसकी सत्ता का आधार सैनिक बल नही लोकस्वीकृति होती है। लोकस्वीकृति को सिर्फ बहुमत की स्वीकृति नही समझना चाहिए क्योकि ऐसे राज्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह किसी भी अल्पसंख्यक वर्ग–यहाँ तक कि किसी एक व्यक्ति–के बुनियादी मानव अधिकारो का सम्मान करेगा और उस सीमा तक उनकी रक्षा करेगा जब तक वे किसी अन्य वर्ग या

व्यक्ति के दमन, उत्पीड़न और शोषण पर आधारित नहीं होते हैं। यदि इस दृष्टिकोण की आधारभूमि में रखते हुए लोकतान्त्रिक राज्य के माध्यम से और कानूनी परिवर्तनों की सहायता से सामाजिक आर्थिक परिवर्तन करने की दिशा में सचेष्ट हुआ जाता है तो उसे हिंसा कहना दुराग्रह ही माना जाएगा।

किसी भी तरह का औद्योगीकरण सार्वजनिक साधनों पर ही निर्भर करता है—चाहे वे साधन प्राकृतिक हों या भौतिक। सार्वजनिक स्वामित्व वाले इन साधनों का इस्तेमाल यदि किसी एक वर्ग या व्यक्ति के हित में किया जाता है तो वह अपने आप में हिंसा का बड़ा सूक्ष्म किन्तु खतरनाक रूप है और ऐसा न होने देने के लिए कानून या राज्य की शक्ति का इस्तेमाल हिंसा नहीं बल्कि पूर्णतया अहिंसक बचाव है और यदि कोई राज्य इस बचाव में सक्रिय नहीं होता तभी उसे वास्तविक अर्थों में संगठित हिंसा का एक प्रकार कहा जाना चाहिए क्योंकि तब वह सुविधाहीन वर्ग के विरुद्ध एक आक्रामक संस्था के रूप में अपना इस्तेमाल करने की छूट उस वर्ग को दे रहा होता है जिसने सार्वजनिक सम्पत्ति पर अपना निजी नियन्त्रण स्थापित कर लिया होता है। दरअसल, जब राज्य को संगठित हिंसा कहा जाता है तो एक केन्द्रीकृत सत्ताभिमुख राज्य का ही विचार मन में रहता है। यदि राज्य का ग्राम स्तर तक विकेन्द्रीकरण हो और बुनियादी सामाजिक आर्थिक परिवर्तन के उद्देश्य से बनाये जाने वाले कानूनों की पहल केन्द्र स्तर की बजाय स्थानीय स्तर से हो तो उसे हिंसा कहना किसी भी प्रकार उचित नहीं माना जायेगा।

इस सम्बन्ध में यह तथ्य भी विचारणीय है कि निजी लाभ के लिए सार्वजनिक साधनों के इस्तेमाल में किसी भी प्रकार का सहयोग करना भी प्रकारान्तर से हिंसा के साथ सहयोग करना है। इसलिए जहाँ शोषित या दलित वर्ग और उसके प्रति सहानुभूति रखने वालों से यह माँग की जाती है कि वे इस तरह की आर्थिक प्रणाली से असहयोग करें, वहीं राज्य से भी यह माँग की जानी चाहिए कि वह इस तरह की आर्थिक प्रक्रिया में कोई सहयोग न दे। महात्मा गांधी जैसे अहिंसावादी विचारक का भी कहना था कि मजदूरों को पूँजीपतियों के हृदय परिवर्तन की प्रतीक्षा करते रहने की आवश्यकता नहीं है, उन्हें तुरन्त इस व्यवस्था से असहयोग शुरू कर देना चाहिए। लेकिन यही माँग क्या हम राज्य से भी नहीं कर सकते हैं?

राज्य यदि लोकेच्छा और लोकहित का वास्तविक संरक्षक है और स्वयं को संगठित हिंसा का ही एक प्रकार नहीं बनाये रखना चाहता हो तो उसे अपनी कार्यप्रणाली और तरीकों में बुनियादी परिवर्तन करना होगा। सार्वजनिक साधनों पर समाज की ओर से राज्य का संरक्षण रहता है और उसकी सहमति

के बिना कोई व्यक्ति या वर्ग निजी लाभ के लिए उनका इस्तेमाल मनमाने तरीके से नहीं कर सकता। यदि हम यह मानते हैं कि सार्वजनिक साधनों पर निजी अधिकार और मानवीय श्रम को शोषित होते रहने के लिए विवश कर देना हिंसा है तो राज्य द्वारा इस हिंसा की अनुमति देना और उसका प्रतिरोध न करना उसे भी हिंसा का सहयोगी बना देता है। इसलिए राज्य के लिए भी सही रास्ता यही रहता है कि वह न केवल शोषित वर्ग को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक करे बल्कि स्वयं भी पूंजीपति वर्ग के साथ पूर्ण असहयोग करे। इस असहयोग के कई रूप हो सकते हैं। पूंजीपति की व्यक्तिगत सुरक्षा और तोड़ फोड़ की प्रवृत्तियों को रोकने के अतिरिक्त हर मसले पर राज्य द्वारा उसके साथ असहयोग करना ही उचित है। सार्वजनिक धन द्वारा जुटाये गए साधनों की सस्ती दरों पर कारखानेदारों को उपलब्धि विदेशों से कच्चा माल मगाने की छूट व अन्य ऐसी सुविधाएँ बन्द की जा सकती हैं क्योंकि ये सब सुविधाएँ देना प्रकारान्तर से शोषण में सहयोगी होना है। यदि स्वयं राज्य द्वारा असहयोग के अस्त्र का प्रयोग किया जाता है तो राजसत्ता की प्रकृति व स्वरूप पर इसके बुनियादी और दूरगामी प्रभाव पड़ेंगे और समस्याओं के समाधान में सक्रियता आयेगी।

यदि कोई राज्य पूंजीवादी और हिंसक आर्थिक प्रक्रिया के साथ सहयोग करता है तो उसे अहिंसक और लोकतान्त्रिक राज्य मानने का कोई आधार नहीं रहता। ऐसी स्थिति में हिंसा को अनुचित मानने वाले नागरिक वर्ग पर यह दोहरा उत्तरदायित्व आ जाता है कि वह न केवल उस आर्थिक प्रक्रिया को बदलने के लिए सचेष्ट हो जो शोषण और असमानता को बढ़ाती है बल्कि उस आर्थिक प्रक्रिया के साथ सहयोग करने वाली या उसका प्रतिरोध न कर सकने वाली राजनीतिक प्रक्रिया को भी सही लीक पर डालने की दिशा में प्रयत्नरत हो। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो वह न केवल अन्याय को बर्दाश्त ही करता है बल्कि उसमें सहभागी भी हो रहा होता है।

स्वतन्त्रता से पलायन

यह अक्सर देखा गया है कि मनुष्य के कल्याण और सही विकास को अपना प्रयोजन मानने वाली विचारधाराएँ और उनसे प्रेरित संस्थाएँ एक-दूसरे के इतना विरोध में हो जाती हैं कि वे एक दूसरे को अपना शत्रु घोषित कर देती हैं और उनका समय और श्रम अधिकांशत एक दूसरे की निन्दा करने और उसे समाप्त करने की कोशिश में ही लगा रहता है। आधुनिक काल में राजनीतिक और मध्यकाल में धार्मिक सम्प्रदाय इस प्रवृत्ति का स्पष्ट उदाहरण है। मेरे सम्मुख यह सवाल अक्सर खड़ा होता है कि लक्ष्य एक होने पर एक दूसरे के प्रति यह भाव क्यों? यह भाव यदि सिर्फ उन लोगों में हो जो राजनीतिक या धार्मिक या अन्य किसी प्रकार के सत्ता संस्थान पर आसीन हैं या होना चाहते हैं तो उसका कारण समझ में आता है। लेकिन इस तरह की प्रवृत्ति उन लोगों में अधिक दिखायी पड़ती है जो अपने रोजमर्रा दिन जीवन में सरल और सादा हैं तथा जिन्हें वे ठीक मानते हैं उन विचारों के लिए कष्ट उठाने को भी तैयार रहते हैं—वे सामान्य जन जो सत्ता पर आसीन होना नहीं चाहते।

ऐसा क्यों है? कहीं ऐसा तो नहीं है कि हम विचारधारा से अधिक उन संस्थाओं और व्यक्तियों से जुड़ जाते हैं जो स्वयं को उस विचारधारा का पोषक मानती हैं और उस विचारधारा की व्याख्या और अपने कार्य व्यापार के औचित्य के सम्बन्ध में ऐसी किसी संस्था या व्यक्तियों के निर्णय को ही कसौटी के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। यहाँ यह भी समझ लिया जाना चाहिए कि कोई विचारधारा यह नहीं चाह सकती कि मनुष्य अपने आचरण के औचित्य की तलाश अपने विवेक की बजाय किसी अन्य संस्था या व्यक्ति या व्यक्ति समूह में खोजे। ऐसी कोई भी कोशिश उस विचारधारा को मानव विरोधी बना देती है क्योंकि मनुष्य एक स्वतन्त्र चेतनासम्पन्न और विचारशील प्राणी है अत उसकी हर स्वतन्त्रता और विचारशीलता पर यदि कोई अन्य बात एक स्थायी बाधा हो जाती है—चाहे उसमें उस व्यक्ति की सहमति भी क्यों न हो—तो उसे सार रूप में मानवविरोधी ही कहना होगा।

कई दफा ऐसा भी हो सकता है कि हम विचारधारा को भी जरूरत से अधिक महत्त्व दे लेते हैं। विचारधारा का महत्त्व इस बात से निर्धारित होता है कि

वह किन बुनियादी मानवमूल्यों से अनुप्राणित है और किस हद तक उन्हें पुष्ट करती है। यदि विचारधारा की विस्तृत योजना में कोई ऐसी बात आ जाती है जो उन बुनियादी मानवमूल्यों को कहीं आघात पहुँचाती है तो उसका विरोध करना होगा क्योंकि ऐसा न करना उस विचारधारा की बाकी सार्थकता को भी आघात पहुँचाना होगा। निरंतर बदलती हुई परिस्थितियों में विचारधारा की निरंतर व्याख्या करते रहना होता है। इस व्याख्या के सही या गलत होने का निर्णय तत्कालीन परिस्थितियों में उसकी कामचलाऊ उपयोगिता पर नहीं निर्भर करता। यह इस पर निर्भर है कि इस नई व्याख्या की संगति उन बुनियादी मानवमूल्यों से बैठती है या नहीं जो उस विचारधारा का प्राण है। इस मूल्यबोध को खो देने पर कोई भी पद्धति, विचार या संस्था एक ऐतिहासिक विकृति बनकर रह जाती है। कई दफा इस तरह की विकृति तत्कालीन परिदृश्य पर अधिक प्रभावी हो जाती है—जैसा कुछ सीमा तक आज है भी—लेकिन इस तरह प्रभावी हो जाने मात्र से उसे उचित या सार्थक नहीं माना जा सकता बल्कि ऐसी परिस्थितियों में उन बुनियादी मूल्यों के लिए हर स्तर पर प्राणपण से संघर्ष करना और भी ज्यादा जरूरी और सार्थक हो जाता है। परिवेशगत प्रवृत्तियों से परिचित होना, उन्हें पहचानना एक अलग बात है लेकिन उन्हें अपने पर, अपने निर्णय पर हावी कर लेना या उनमें इसलिए बह जाना कि अधिकांशतः वैसा ही हो रहा है, अपने को एक स्वतन्त्र मानव व्यक्तित्व की हैसियत से एक दर्जा नीचे उतार देना है।

कई दफा ऐसा भी होता है कि मनुष्य अपने स्वतन्त्र निर्णय और विवेक के प्रयोग के अधिकार को—और यह अधिकार मनुष्य का सबसे बड़ा अधिकार है जिसका समर्पण उसे सिर्फ जैविक स्तर पर ही मनुष्य रखता है—इसलिए छोड़ देना मंजूर कर लेता है कि बाह्य दबाव इतने अधिक शक्तिशाली हो जाते हैं कि उनका मुकाबला अस्तित्व तक को समाप्त कर सकता है। कुछ लोग आपद्धर्म के रूप में इस आचरण का औचित्य स्वीकार कर लेते हैं—यद्यपि इस पर भी काफी मतभेद की गुंजाइश है पर यह तर्क समझ में आता है कि अस्तित्व भी एक मूल्य है अतः उसकी रक्षा होनी चाहिए। लेकिन यह भी होता है और यह ज्यादा खतरनाक है कि मनुष्य कई दफा अपनी स्वतन्त्रता की सिद्धि से भागता है—वह अपनी स्वतन्त्रता को विभिन्न बहानों से किसी न किसी इतर सत्ता को इसलिए सौंप देता है कि स्वतन्त्रता अपने मूल्यगत स्तर पर एक उत्तरदायित्व है और उस उत्तरदायित्व का बोझ इतना दुर्वह है कि वह उसे सहन करने से कतराता है। अपने स्वतन्त्र विवेक की बजाय जाति, वर्ग, दल, धर्म-सम्प्रदाय या राष्ट्र के निर्णय को इसलिए स्वीकार कर लेना कि वे उससे किसी बड़ी सत्ता के निर्णय हैं या अपने लिए निर्णय का भार उन्हीं पर छोड़

देना स्वतन्त्रता से पलायन है—एक गहरे और बुनियादी अर्थों मे यह मानवत्व से भी पलायन है—लेकिन किसी भी भाति यह पलायन स्वाभाविक नही है, एक विकृति है और इसलिए इस तरह के पलायन का प्रयास करने वाले व्यक्तियो या समाजो मे विभिन्न प्रकार की विकृतिया दिखाई देने लग जाती हैं। इस विकृति की विभिन्न सामाजिक मनोवैज्ञानिक अभिव्यक्तियाँ हो सकती हैं। लेकिन एक बात जो इन सभी जगहो पर सामान्य नजर आती है वह है मनुष्य का अवमूल्यन। इस तरह के सन्दर्भो मे मनुष्य को—एक यथार्थ इकाई के रूप मे व्यक्ति मनुष्य को—किसी न किसी इतर सत्ता से ओछा बताया जाता है। यह इतर सत्ता सम्प्रदाय हो सकती है, जाति हो सकती है राजनैतिक दल भी हो सकता है आर्थिक प्रक्रिया हो सकती है, ऐतिहासिक नियतिवाद हो सकता है—यहा तक कि राष्ट्र भी हो सकता है।

इसलिए विचारधाराओ या सगठनो से जुडते हुए—यह जुडना भी स्वाभाविक है लेकिन यह जुडना है अपना टूटना नही—क्या निरन्तर यह ध्यान मे रखना जरूरी नही है कि हमारा और सम्बन्धित सस्था या विचारधारा का आचरण भी उन बुनियादी मानवमूल्यो की कसौटी पर कसा जाता रहे जो उसका वास्तविक प्राण है और जिनके बिना उसकी कोई सार्थकता नही है ? लेकिन क्या ऐसा होता है ? क्या हम इस ओर सजग हैं ? ऐसा नही होने पर ही तो लोकतन्त्र अधिनायकवाद मे धर्म एक अमानवीय सत्ता के रूप मे और क्रान्तियाँ प्रतिक्रान्तियो मे परिवर्तित हो जाती है।

आर्थिक प्रक्रिया मानवीय आधार

आधुनिक अर्थशास्त्री–और इसलिए आधुनिक राजनीतिक विचारक और कार्यकर्ता भी आर्थिक समस्या को मूलत उत्पादन की समस्या मानते हैं। यदि किसी समाज या राज्य मे उत्पादन की समस्या हल हो जाती है–और इस हल मे कारखानो और रोजगार के अवसरो की सख्या मे तदनुकूल बढोत्तरी अर्थात् समाज की विक्रय शक्ति मे वृद्धि भी शामिल है–तो यह समझना चाहिए कि उसकी आर्थिक समस्याएँ भी हल हो रही हैं। इसलिए आर्थिक विकास का तात्पर्य उत्पादन मे विकास माना जाता है। लेकिन कुछ अर्थशास्त्री ऐसे भी है जो केवल उत्पादन के आधार पर ही नही बल्कि मुनाफे के वितरण के आधार पर आर्थिक प्रक्रिया के औचित्य का निर्धारण करते हैं। इन लोगो के विचार मे उत्पादन मे वृद्धि की प्रक्रिया जब तक शोषण रहित नही हो जाती –और ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया म ऐसा होना अनिवार्य है–तब तक अर्थव्यवस्था अपने सही वैज्ञानिक स्वरूप को ग्रहण नही कर सकती। 'अतिरिक्त मूल्य' श्रमिक के श्रम का प्रतिफल है अत उस पर किसी कारखानेदार का व्यक्तिगत स्वामित्व नही होना चाहिए।

इसमे कोई सन्देह नही कि यह दृष्टि पहले वाली दृष्टि की तुलना मे आर्थिक सिद्धान्तो की दृष्टि से अधिक उचित है और अपेक्षाकृत मानवीय भी–अपेक्षाकृत इसलिए कि यह दृष्टि भी अपने अन्तिम निष्कर्ष मे मनुष्य को अपने जीवन का–और इसलिए आर्थिक जीवन का भी नियन्ता नही मानती बल्कि उसे भी यन्त्रो और कच्चे माल की तरह आर्थिक प्रक्रिया का एक उपकरण बना लेती है। इसलिए यह पूर्णत मानववादी दृष्टि नही है। इस दृष्टि मे भी दूसरी प्रमुख कमजोरी यह लगती है कि यह भी उत्पादन मे अधिकाधिक विकास को ही प्रमुख प्रक्रिया मानती है और इस प्रकार प्रकृति और उसकी सम्पदा के साथ वैसा ही हिंसक रवैया अख्तियार करती है जैसाकि प्रथम दृष्टि करती है। इस प्रकार पूँजीवाद और मार्क्सवादी समाजवाद जिन्हे वैकल्पिक दृष्टियो के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है दोनो ही अन्तत मनुष्य को हिंसक प्रवृत्ति की ओर उन्मुख करते हैं यद्यपि दोनो के घोषित लक्ष्य एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत हैं। इसका कारण शायद यही है कि मार्क्सवादी समाजवाद का जन्म एक यान्त्रिक

प्रक्रिया के तहत पूजीवाद के अन्तर्विरोधो से होता है। अत स्वय उसका भी इन अन्तर्विरोधो से ग्रस्त होना स्वाभाविक है। इन अन्तर्विरोधो से तभी बचा जा सकता है जब यह माना जाय कि समतामूलक समाज के विकास की प्रक्रिया यान्त्रिक नही बल्कि मानवीय चेतना द्वारा निर्देशित है, अत उस प्रक्रिया का एक नैतिक पहलू भी है और वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यदि चेतना के विकास का तात्पर्य अहिंसा की प्रवृत्ति का विकास है तो सामाजिक आर्थिक विकास की प्रक्रिया म ही नही प्रकृति के प्रति भी अहिंसक रूख को विकसित होना होगा क्योकि अहिंसा की प्रवृत्ति का सम्बन्ध हमारे मन से है—इसमे दूसरे पक्ष की स्थिति केन्द्रीय नही है। मार्क्सवादी समाज की प्रक्रिया भी अन्तत श्रमिक से एक नैतिक माँग तो करती ही है। जब यह कहा जाता है कि प्रत्येक से उसकी योग्यता के अनुसार लो, और प्रत्येक को उसकी जरूरत के मुताबिक दो तो यह बुनियादी रूप से एक नैतिक सिद्धान्त है। 'अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त' को यान्त्रिक तरीके से लागू करने पर तो अतिरिक्त मूल्य भी सीधा श्रमिक को ही मिलना चाहिए। तब सिद्धान्त होना चाहिए कि 'प्रत्येक से योग्यता के अनुसार लो और उसी आधार पर उसे दो भी' जो निश्चय ही नैतिक दृष्टि मे एक पूजीवाद माग होगी।

उपर्युक्त दोनो ही दृष्टिया एक बुनियादी भ्रम की शिकार भी हैं। दोनो ही यह मानती है कि प्राकृतिक सम्पदा पर मनुष्य का स्वामित्व है जबकि इस मान्यता का कोई नैतिक आधार उनके पास नही है—बल्कि वह कह सकते हैं कि इसका कोई आर्थिक आधार भी नही है। अपने श्रम से उत्पादित वस्तु पर तो मनुष्य अपना अधिकार मान सकता है लेकिन प्राकृतिक सम्पदा के उत्पादन या सचयन मे उसकी कोई भागीदारी नही है। हम कह सकते हैं कि इस सम्पदा के बिना उसका अस्तित्व ही सम्भव नही है इसलिए उसे प्रकृति का दोहन करना ही होगा। इसका तात्पर्य यही हुआ कि मनुष्य समाज नैतिक दृष्टि से प्रकृति पर अबाध अधिकार नही रखता बल्कि अपने अस्तित्व के लिए उस पर निर्भर करता है और इसीलिए उसका उपयोग करता है। लेकिन मनुष्य के मनुष्य होने मे ही यह तय है कि वह एक उत्तरदायी प्राणी है अत प्रकृति के साथ अपने इस रिश्ते मे भी इस उत्तरदायित्व का प्रतिफलन होना स्वाभाविक हो एक अनिवार्य नैतिक माग है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य द्वारा प्रकृति का दोहन उस सीमा तक ही उचित माना जा सकता है जिस सीमा तक उसकी बुनियादी जैविक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए ऐसा करना अनिवार्य हो। साथ ही यह देखते चलना भी जरूरी होगा कि वह प्रकृति के प्रति अपने दायित्व का पालन भी करता है या

नही–अर्थात प्रकृति का हो रही हानि की यथासम्भव क्षतिपूर्ति करने की दिशा मे भी उस सचेष्ट रहना होगा। इसी का आधुनिक भाषा मे पारिस्थतिक सन्तुलन–इकॉलॉजिकल बलेंस–कहा जाता है। यह दृष्टिकोण आर्थिक कसौटी पर भी उतना ही खरा उतरता है जितना नतिक कसौटी पर। यदि यह मान भी लें कि प्रकृति पर मनुष्य का अधिकार है तो भी मानना होगा कि वह किसी एक मनुष्य जाति, राष्ट्र या वग अथवा एक कालखण्ड के मनुष्य का नही बल्कि सावभौमिक और सवकालिक मानवता का अधिकार है। अत किसी भी एक मनुष्य राष्ट्र या वग को यह अधिकार नही दिया जा सकता कि वह अपनी तात्कालिक आवश्यकताओ और सुविधाओ की पूर्ति के लिए इस सम्पदा का असतुलित दोहन कर सके।

अत आर्थिक विकास का तात्पय सिफ उत्पादन का विकास या मुनाफे के वितरण का सतुलन ही नही है। उसम यह ध्यान रखना भी उतना ही आवश्यक है कि यह प्रक्रिया स्वय म कितनी मानवीय है। उत्पादन का निर्धारण बाजार की माँग पर नही बल्कि इस आधार पर होना लाजिमी ह कि मनुष्य की वास्तविक आवश्यकताएँ क्या है और उसकी चेतना के विकास मे किस हद तक प्रकृति का दोहन आवश्यक है। जीवन स्तर को ऊँचा उठाने नाम पर मनुष्य को श्रमविमुख और सुविधाजीवी बना देना और उसकी सुरसा की तरह मुह फलाती हुई सुविधाओ की मागो की पूर्ति के लिए प्रकृति का और मानवीय प्रतिभा और श्रम का भी शोषण आर्थिक विकास की ही नही मानवीय चेतना के नतिक विकास की प्रक्रिया की एक विकृति के रूप म ही समझा जा सकता है। यदि मनुष्य मात्र समान है तो सिफ वतमान म जीवित मनुष्य ही नही भविष्य म आने वाला मनुष्य भी उतना ही समान है। अत उसकी उपक्षा या अधिकारो का हनन उतना ही स्वाथ केन्द्रित और हिंसक और उस हद तक अमानवीय भी बनाता है जितना आज के मनुष्य का शोषण और अवमानना। आर्थिक विकास की सही और मानवीय दिशा म हमे न केवल उत्पादन और वितरण के फलो को सब तक समान स्तर पर पहुँचाना होगा बल्कि उसकी प्रक्रिया म प्रकृति और भावी मानवता के प्रति भी एक उत्तरदायित्व का बोध विकसित करना होगा।

तीसरे रास्ते की तलाश

अथशास्त्र का अध्ययन करने वाले लोगो मे अधिकांश सख्या उन लोगा की है जो आर्थिक जीवन को अपने ही स्वायत्त नियमो द्वारा सचालित मानत हैं और किसी प्रकार के तत्वचिन्तन या मूल्यदशन के साथ उसका कोई अनिवाय अन्त सम्बन्ध नही मानते—बल्कि उनमे भी एक बडी सख्या तो यह मानने वाला की रही है कि आर्थिक जीवन और नतिकता या मूल्यबोध तो अनिवायत एक दूसरे के विरोधी हैं। एडमस्मिथ जसे अथशास्त्री यह मानते थे कि मनुष्य का आर्थिक जीवन और विकास उसकी बुनियादी स्वाथ वृत्ति से प्रेरित और नियन्त्रित निर्देशित है, इसलिए नतिकता से उसका अनिवायत विरोध का ही सम्बन्ध हो सकता है। दूसरे शब्दो मे, इसका तात्पय यही हुआ कि सस्कृति या मानवीय चेतना आर्थिक जीवन की केन्द्रीय धुरी नही है बल्कि आर्थिक जगत के अपने स्वायत्त नियम हैं और उनका पालन करने पर ही आर्थिक जीवन का सुचारू सचालन सम्भव हो सकता है। यही कारण है कि बहुत से एसे अथशास्त्री भी मिल जायेगे जो यह मानते हैं कि बाजार मे काले धन की एक सीमा तक उपस्थिति आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है। इस तरह के विद्वान यह भूल जाते हैं कि आर्थिक जीवन मनुष्य के समग्र कल्याण के लिए किये जा रह मानवीय प्रयत्नो का एक अश है इसलिए उसे शेष जीवन से काट कर नही समझा जा सकता और यदि हम ऐसा करते भी हैं तो मानव जीवन मे एक अनिवाय अन्तर्विरोध को ही विकसित कर रहे होते हैं। बाजार के नियम नतिक बोध से परे है यह मानना बाजार को एक अमानवीय सत्ता मान लेना है। आधुनिक समझे जाने वाले या वज्ञानिक अध्ययन का दावा करने वाले अथशास्त्र के कई पण्डित यही मानते हैं और उनके प्रभाव म आधुनिक सरकारें भी अधिकाशत इसी मत को स्वीकार करती हैं। यही कारण है कि आर्थिक सवालो को हल करते समय मानवीय या नतिक प्रेरणाओ की अवहेलना की जाती रहती है। आर्थिक जीवन की यह नीति निरपेक्षता शन शन हमारे सामान्य जीवन मे एक वज्ञानिक दृष्टि के रूप मे विकसित और स्वीकृत हो गयी है। कहना न होगा कि हमारे सामाजिक जीवन के बहुत से तनाव और अन्तर्विरोध इसी भ्रामक दृष्टि के परिणाम हैं।

एक दूसरा वर्ग ऐसा है जो आर्थिक जीवन को शेष जीवन से काट कर तो नही देखता लेकिन वह उपर्युक्त दृष्टि के विपरीत सारे जीवन की केन्द्रीय प्रेरणा के रूप म आर्थिक प्रेरणा को ही स्वीकार करता है। यह दृष्टि सारे ऐतिहासिक-सास्कृतिक परिवतनो का वास्तविक कारण आर्थिक परिवतन को ही मानती है। इस प्रकार प्रकारा तर से यह दृष्टि भी आर्थिक जीवन को ही वास्तविक जीवन मानती है क्योंकि बाकी का सारा जीवन तो उसी मूल प्रेरणा का प्रतिफलन है। यह दृष्टि भी मूलत मनुष्य को आर्थिक प्राणी मानती है और नैतिकता अगर कुछ हो सकती है तो यही आर्थिक परिवतन की दिशा को समझ कर उसके साथ हो लिया जाय। यह आश्चयजनक है कि मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण का विरोध कर एक समतामूलक और सामाजिक अ याय से रहित समाज की स्थापना का स्वप्न देखने वाली विचारधाराएँ और सगठन अपने प्रयत्नो के नतिक आधार की अवहेलना करते हैं और एक नतिकतानिरपेक्ष ऐतिहासिक दृष्टि को अपने प्रयत्नो की मूल प्रेरणा स्वीकार करते है क्योंकि उनकी राय मे वही वज्ञानिक है। यह बात दीगर है कि इस दृष्टि के राजनीतिक प्रतिफलन मे वे मनुष्य की नैतिक चेतना को जाग्रत कर उसका लाभ उठाने की कोशिश भी करते है।

स्पष्ट है कि ये दोनो ही दृष्टिकोण भ्रामक ही नही मानवविरोधी भी है क्योंकि दोनो ही मनुष्य को जीवन की केन्द्रीय प्रेरणा के रूप मे स्वीकार नही करते। दोनो ही जगह मनुष्य बाजार के नियमो द्वारा अनुशासित है—बल्कि सही होगा यह कहना कि दोना ही जगहा पर वह आर्थिक सत्ता का उपकरण है। एक जगह आर्थिक सत्ता अप्रत्यक्ष नियमा द्वारा सचालन करती है और दूसरी जगह उसका राजनीतिक प्रतिफलन उसे नियन्त्रित निर्देशित करता है। अपनी इस कोशिश मे दोनो ही दृष्टिकोण और उनसे प्रेरित राजनीतिक-सामाजिक व्यवस्थाएँ मनुष्य का विमानवीकरण करती और अपनी प्रक्रिया मे हिंसक तथा प्रकृति मे आततायी हो जाती है। पूजीवादी लोकतन्त्र और सवसत्तावादी समाजवाद दोनो ही व्यवस्थाएँ इसीलिए मूलत मानव विरोधी हैं क्योंकि वे आर्थिक प्रक्रिया का उद्देश्य मनुष्य का—मनुष्य मात्र का—कल्याण नही मानती बल्कि मनुष्य को आर्थिक नियमो का उपकरण बना देती हैं। मनुष्य का केवल या मूलत आर्थिक प्राणी मान लेने का मतलब उसके विकास की बहुआयामी सम्भावनाओ को नकार देना और उसे एक सजीव मशीन की हैसियत दे देना है। कहना न होगा कि उससे मानवीय श्रम के प्रति भी एक हेयता की भावना विकसित होती है क्योंकि श्रम मानवीय जिजीविषा और सजनशीलता की अभिव्यक्ति का माध्यम न रहकर एक लाभकारी गतिविधि रह जाता है और यदि यह लाभ उस श्रम की तुलना म एक यन्त्र द्वारा अधिक

हो सकता है तो मनुष्य पर यन्त्र को वरीयता देना आर्थिक दृष्टि से अनुचित नही समझा जा सकता। श्रम या कर्म वह प्रक्रिया नही रहतो जिसमे मनुष्य अपनी पहचान और अभिव्यक्ति ढूढता है बल्कि वह एक बाजारू जिन्स हो जाता है। श्रमिक का गौरव गान करने वाली दृष्टि अन्तत श्रम को ही कितना हेय मान लेती है, इस अन्तर्विरोध की पहचान भी बहुत कम विकसित हो पाती है।

आर्थिक जीवन समग्र मानवीय जीवन का एक ऐसा पक्ष है जिसका सम्बन्ध मनुष्य की बुनियादी आवश्यकताओ से है—यानी उन आवश्यकताओ से जिनके बिना मनुष्य के जैविक अस्तित्व का बना रहना भी सम्भव नही रहता। अत उसके महत्त्व की अनदेखी नही की जा सकती—लेकिन इसीलिए उसे मानवीय भावनाओ और नैतिक बोध के दायरे से बाहर भी नही माना जा सकता। मनुष्य यदि एक स्वतन्त्र सृजनशील चेतना सम्पन्न उत्तरदायी प्राणी है तो उसकी हर क्रिया मे इसी चेतना की अनुप्रेरणा प्रतिबिम्बित होनी चाहिए। उसके आर्थिक जीवन को न केवल शेष जीवन से काट कर नही देखा जा सकता बल्कि उसकी मूल प्रेरणा मे भी वही सस्कृति चेतना या नैतिक बोध रहना चाहिए जो उस पशु से अलग करता और उसके मनुष्य होने को सिद्ध करता है। सामाजिक अन्याय के विरुद्ध तथा मानवीय स्वतन्त्रता और समानता के लिए किया जा रहा सघर्ष मूलत एक नैतिक सघर्ष है क्योकि न्याय अथवा अन्याय की धारणाएँ मूलत नैतिक धारणाएँ हैं। आर्थिक जीवन मे विकास की कथित वैज्ञानिक दृष्टि शोषण और दमन को भी उतना ही वैज्ञानिक मानने को विवश है जितना शोषणमुक्ति को। लेकिन मानववादी दृष्टि शोषण और दमन को हर हालत मे अनैतिक ही मानती है। यह एक स्पष्ट तथ्य है कि सामाजिक न्याय के लिए सघर्ष की तीव्रता और विस्तार इसी नैतिक पुकार का असर है, किसी वैज्ञानिक दृष्टि का नही।

इसलिए उन समाजो को जो अपने को मानववादी, लोकतान्त्रिक और सामाजिक न्याय का पक्षधर मानते हैं अपनी अर्थ व्यवस्था को भी इस तरह नियमित करना होगा जिसमे मानवीय स्वतन्त्रता यानी मनुष्य मात्र की स्वतन्त्रता और गरिमा की रक्षा हो सके। यह सिर्फ आर्थिक जीवन के लाभ के वितरण का ही प्रश्न नहीं है। यह प्रश्न सिर्फ इतना ही नहीं है कि 'अतिरिक्त मूल्य' का उपयोग या उपभोग किसके द्वारा और किस तरह किया जाय। यह सवाल मनुष्य के लिए अधिकाधिक भौतिक सुविधाएँ जुटा देने का भी नहीं है। यह सवाल समग्र मानवचेतना के विकास या सस्कृतिकरण की सार्थकता का सवाल है। आर्थिक जीवन का उद्देश्य यदि समग्र मानवीय कल्याण म

सहयोगी होना है तो उसे केवल अपने स्थूल परिणामों में ही नहीं, अपनी पूरी प्रक्रिया और स्वरूप में भी मानवीय होना होगा। कभी धर्म से अनुप्राणित होने पर ही अर्थ और काम को सुख का मूल ही नहीं, मोक्ष की ओर उन्मुख होना भी माना जाता था। रूढ़िगत अर्थ में तो नहीं, लेकिन एक नयी धर्म-दृष्टि, एक नयी मानवीय दृष्टि के बिना अर्थ अब भी अनर्थ का ही विकास करेगा।

कस्मै देवाय ?

यदि आर्थिक प्रक्रिया को भी एक समग्र सांस्कृतिक प्रक्रिया का ही एक अनिवार्य अंग मान लिया जाये तो इसका एक निहितार्थ यही होगा कि किसी भी आर्थिक प्रक्रिया की वास्तविक सार्थकता और सफलता को आंकने में इस बात पर भी गौर करना अनिवार्य हो जायेगा कि मनुष्य की चेतना के समग्र संश्लिष्ट विकास पर उसका प्रभाव कैसा होता है। इसका मतलब यही हुआ कि एक संस्कृत समाज या जाति में आर्थिक प्रक्रिया का वास्तविक लक्ष्य या प्रयोजन मानवीय चेतना का विकास ही होगा यद्यपि उसका माध्यम और कार्यक्षेत्र आर्थिक जीवन तक ही सीमित माना जायेगा। जीवन एक संश्लिष्ट प्रक्रिया है, अतः आर्थिक पक्ष का असर शेष दूसरे जीवन के पक्षों पर पड़ना स्वाभाविक ही है, लेकिन इसीलिए अर्थशास्त्र के लिए भी यह देखते रहना आवश्यक हो जाता है कि वह जीवन की इस संश्लिष्ट प्रक्रिया में कोई सृजनात्मक योगदान दे रहा है या नहीं—बल्कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि अनजाने ही आर्थिक पक्ष का असर समग्र मानवीय विकास की दृष्टि से निषेधात्मक ही अधिक हो रहा हो। लेकिन यह तभी सम्भव है जब हम यह स्पष्टतया समझ लें कि विकास का अर्थ सिर्फ आर्थिक विकास नहीं है जैसा कि कथित आधुनिक अर्थशास्त्री समझते हैं बल्कि मानवीय चेतना का विकास ही वास्तविक विकास है और उसका लक्षण सिर्फ विचार का विकास नहीं बल्कि सभी प्रकार के मानवीय रिश्तों और कार्य व्यापारों में उसी भावना का प्रतिफलन होना है।

लेकिन ऐसा मानने का मतलब आधुनिक कही जाने वाली आर्थिक पद्धति, प्रक्रिया और व्यवस्था के बुनियादी लक्ष्य और प्रयोजनों को बदलना होगा। आधुनिक आर्थिक प्रक्रिया मूलतः उत्पादन में वृद्धि को ही अपना लक्ष्य मानती है और उसका प्रयोजन अधिकाधिक आर्थिक लाभ प्राप्त करना है। सामान्यतः यह कहा जाता रहा है कि आर्थिक प्रक्रिया का प्रयोजन उपभोक्ता की आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। लेकिन यह उपभोक्ता भी अर्थशास्त्र की दृष्टि में एक वस्तु की ही हैसियत रखता है। आर्थिक प्रक्रिया इस उपभोक्ता को उपभोग के लिए कुछ वस्तुएँ उपलब्ध कराना चाहती है तो इसीलिए कि

इसके बिना उसकी उत्पादन प्रक्रिया लाभकारी नही होगी। अन्यथा उस 'उपभोक्ता' पर उसके द्वारा उत्पादित वस्तुओ के उपभोग के कारण पडने वाले अन्य प्रभावो से उसका कोई वास्तविक सरोकार नही है। कई बार लगता है यदि आत्महत्या की कानूनी छूट दे दी जाये तो दुनिया भर म कई कारखाने सिफ इसीलिए स्थापित हो जायेंग कि वे अपने 'उपभोक्ता' के लिए आत्महत्या के अधिक आसान, कष्टहीन और गौरवपूण तरीके खोजकर आत्महत्या को प्रोत्साहन दे सकें। मादक द्रव्यो और ऐसी ही हानिप्रद या स्वास्थ्य पर निश्चित प्रतिकूल असर डालने वाली वस्तुओ का उत्पादन क्या आधुनिक आर्थिक प्रक्रिया के मानव निरपेक्ष किन्तु लाभपरक प्रयोजन की ही एक अभिव्यक्ति नही है ?

देखना होगा कि ऐसा कही इसलिए तो नही है कि वतमान आर्थिक प्रक्रिया की दृष्टि एक कल्पित 'उपभोक्ता' पर केंद्रित है—कल्पित इसलिए कि यदि कोई वस्तु उपभोक्ता की आवश्यकता नही भी है तो उसे कुछ ही दिनो मे एक आवश्यकता बनाया जा सकता है— और इस उपभोक्ता के प्रति उसका कोई नतिक दायित्व नही है ? अधिक से अधिक वह एक आर्थिक दायित्व का आभास मात्र है ताकि उपभोक्ता यह समझता रहे कि उसके द्वारा दी गई कीमत का पूरा उपभाग वह कर पा रहा है। उपभोक्ता केन्द्रित दृष्टिकोण का ही एक असर यह हुआ है कि मानवीय श्रम-ससाधना और आर्थिक प्रक्रिया का एक बडा हिस्सा ऐसी वस्तुओं के उत्पादन म खच होता है जो मूलत कल्पित या कृत्रिम आवश्यकताएँ हैं और उनका न केवल मानवीय चेतना के विकास मे कोई रचनात्मक योगदान नही रहता बल्कि उनम से बहुत सी वस्तुएँ तो अनिवायत प्रतिकूल असर ही पदा करती हैं। यह एक नतिक ही नही बल्कि आर्थिक अपराध भी है कि हम मानवीय श्रम और सावजनिक ससाधना का उपयोग पूरी मानवता के विकास और कल्याण के लिए न कर केवल एक अल्पसख्या के लिए अधिकाधिक सुविधाएँ जुटान के लिए ही करते जायें—यह जानते हुए भी कि उस अल्पसख्या पर भी इसका असर मानवीय चेतना के समग्र विकास की दृष्टि से अ तत सहायक तो नही ही होगा। लेकिन ऐसा शायद इसलिए है कि आर्थिक प्रक्रिया के लक्ष्य और प्रयोजन का निर्धारण करते समय समग्र मानवीय विकास के परिप्रेक्ष्य म विचार नही किया जाता और यह आर्थिक प्रक्रिया किसी निश्चित मनुष्य या मनुष्य-समूह के प्रति नही बल्कि एक अमूत उपभोक्ता के प्रति सम्बोधित होती है। इसका एक परिणाम यह भी होता है कि यह आर्थिक प्रक्रिया सिवाय अपने यानी उत्पादन और सपत म वृद्धि के परिणामस्वरूप हुए मुनाफे के सिवा अन्य किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होती और न किसी भाँति उपभोक्ता या किसी

प्रकार का कोई नियन्त्रण इस प्रक्रिया पर कायम रह पाता है। इस व्यवस्था मे कई बार उपभोक्ता की भी यह विवशता हो जाती है कि वह अपनी वास्तविक आवश्यकता और प्रवृत्ति के अनुसार उपभोग्य वस्तु का चुनाव नही करता बल्कि कुछ दी गयी उपभोग्य वस्तुओ के अनुसार ही उसे अपनी आवश्यकता को सशोधित करना होता है। उत्पादक और उपभोक्ता के बीच कोई प्रत्यक्ष मानवीय सम्बन्ध तो दूर इस प्रक्रिया म उत्पादक और उत्पादित वस्तु के बीच भी कोई सीधा रिश्ता नही कायम हो पाता बल्कि एक अमूत उत्पादक व्यवस्था एक अमूत उपभोक्ता समाज के लिए कुछ निर्जीव वस्तुओ का उत्तरदायित्वहीन उत्पादन करती रहती है। यदि आर्थिक प्रक्रिया से यह उम्मीद वाजिब हे कि उसका उद्देश्य व्यक्ति और समाज के आर्थिक जीवन का इस तरह विकसित करना है कि उसम न केवल हमारी सांस्कृतिक दृष्टि प्रतिबिम्बित होती रहे बल्कि जीवन के गुणात्मक उत्कष म उसका अपेक्षित रचनात्मक योगदान हो तो हम उसके तदनुरूप स्वरूप के निर्माण की ओर सचेष्ट होना होगा। इसके लिए यह आवश्यक है कि आर्थिक प्रक्रिया का वास्तविक लक्ष्य केवल आर्थिक जीवन का विकास ही नही बल्कि समग्र मानवीय जीवन का विकास हो और साथ ही अपने उपभाक्ता के प्रति एक नतिक दायित्व भी वह महसूस करे। स्पष्ट है कि ऐसा तभी हो सकता है जबकि उपभाक्ता और उत्पादक के बीच किसी न किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो—तभी उपभोक्ता भी उत्पादक व्यवस्था पर एक प्रभावी नियन्त्रण रख पायेगा और पूरी प्रक्रिया को अपने उद्देश्य के अनुसार इस्तमाल कर सकन म सफल हो सकेगा। भारतीय परम्परा म समग्र जीवन का ही एक यज्ञ प्रक्रिया माना गया है। आर्थिक जीवन भी एक प्रकार का यज्ञ है, अत इस यज्ञ के पुरोहितो को यह पता होना चाहिए कि वे जिस देवता के नाम हवि दे रहे है वह आर्थिक मुनाफा नही बल्कि समग्र मानवीय चेतना है। गलत देवता के नाम पर हवि देकर उस यज्ञ से इच्छित फल की प्राप्ति जिस प्रकार असम्भव है उसी प्रकार सिफ मुनाफे के लिए विकसित आर्थिक प्रक्रिया के माध्यम स मानवीय सम्बन्धो का विकास भी मुमकिन नही है। लेकिन केन्द्रीकृत स्वामित्व पर आधारित आधुनिक जटिल प्रौद्योगिकी-आश्रित उपभोगपरक मुनाफावादी आर्थिक प्रक्रिया से किसी तरह के मानवीय आशयो की अपेक्षा भी एक मरीचिका ही है। एक विकेन्द्रीकृत और श्रमपरक प्राद्योगिकी पर आश्रित आवश्यकतापरक मानवीय आर्थिक प्रक्रिया ही एक सही विकल्प दे सकता है, लेकिन उस ओर सचेष्ट न होकर इतिहास की यान्त्रिक प्रक्रिया पर ही भरोसा कर बठ रहा जाय तो वह और भी अधिक बड़ी मरीचिका म जीना होगा।

प्रौद्योगिकी का खतरा

यदि चेतना के विकास का एक निहितार्थ मनुष्य में अहिंसा का निरन्तर विकास है तो यह भी देखना होगा कि मानवीय आचरण में हर स्तर पर यह अहिंसा प्रतिबिम्बित होती रहे। सामान्यतः हमारे यहां अहिंसा का बहुत ही स्थूल अर्थ लिया जाता है। अहिंसा का तात्पर्य समझा जाता है हिंसा का निषेध और हिंसा का तात्पर्य है किसी पर बल प्रयोग तथा बल को भी साधारणतया दैहिक अर्थों तक ही सीमित कर समझा जाता है। इस प्रकार अहिंसा मूलतः एक निषेधात्मक धारणा रह जाती है और उसकी परिधि शस्त्र अथवा शारीरिक बल के क्षेत्र तक ही सीमित रहती है।

अहिंसा वस्तुतः एक विधायी धारणा है और उसका उत्स पूरे जीवन के प्रति सात्त्विक आकर्षण, करुणा और लगाव की भावना में है तथा इसीलिए उसका क्षेत्र केवल दैहिक ही नहीं है, वह मानसिक आध्यात्मिक क्षेत्र को भी अपनी व्यापक परिधि में ले लेती है। इस दृष्टि से देखा जाये तो आर्थिक जीवन और उत्पादन की प्रक्रिया को भी अहिंसा की परिधि के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। इस बात का एक पहलू तो कुछ लोगों की समझ में आने लगा है और वे किसी भी प्रकार के आर्थिक शोषण को एक सूक्ष्म प्रकार की हिंसा मानकर उसका विरोध करने लगे हैं। लेकिन यह पहलू उत्पादन की प्रक्रिया से नहीं बल्कि लाभ के वितरण से सम्बन्ध रखता है। अधिकांश लोग अभी भी इस गम्भीर तथ्य की अनदेखी करते रहे हैं कि उत्पादन की आधुनिक प्रक्रिया किस तरह हिंसा का विस्तार करती रही है। यही नहीं, बहुत से अर्थशास्त्री ऐसे भी मिल जायेंगे जो उत्पादन प्रक्रिया के औचित्य को इस प्रकार की सूक्ष्म हिंसा-अहिंसा की कसौटी पर परखने के औचित्य को भी एक प्रकार का भावनात्मक अतिरेक ही कहेंगे।

आधुनिक उत्पादन प्रक्रिया और आर्थिक विकास एक भारी और जटिल प्रौद्योगिकी पर निर्भर करता है। टेक्नालाजी या प्रौद्योगिकी का विकास आर्थिक विकास की अनिवार्य शर्त माना जाता है क्योंकि उत्पादन में वृद्धि आर्थिक विकास की कसौटी है। उत्पादन में अधिकाधिक वृद्धि और उसके लिए अधिक से अधिक कुशल और शक्तिशाली प्रौद्योगिकी की आवश्यकता

होती है। लेकिन आर्थिक विकास को पूर्णतया भारी प्रौद्योगिकी पर निर्भर कर देने का अर्थ उत्पादन प्रक्रिया और आर्थिक जीवन को अमानवीय नियन्त्रण में कर देना है। मनुष्य तो सामान्यतः यही सोचता है कि यन्त्रोद्योग उसके नियन्त्रण में हैं और वह अपनी इच्छा के अनुसार अपने कल्याण के लिए उनका प्रयोग कर सकता है। लेकिन भारी यन्त्रों और प्रौद्योगिकी की अपनी वृत्ति और प्रक्रिया होती है और वह एक ऐसा दुश्चक्र होता है जिससे बचना सम्भव नहीं रहता। इस प्रौद्योगिकी का सबसे बड़ा नुकसान तो यही होता है कि मनुष्य के सामाजिक आर्थिक जीवन की वास्तविक आवश्यकताएँ उपेक्षित रह जाती है और अधिकांश मशीनों का उपयोग युद्ध अथवा गौण आवश्यकताओं या अनावश्यक विलासिता के उपकरणों के उत्पादन में होने लगता है जिसका एक दूरगामी परिणाम होता है मनुष्य का प्रकृति से अलगाव। इस प्रकार प्रकृति और मनुष्य के बीच एक दीवार—पारदर्शी ही सही—पैदा हो जाती है जबकि मनुष्य प्रकृति का ही पुत्र है आज भी प्रकृति ही मनुष्य का प्राण है।

आधुनिक प्रौद्योगिकी भी प्रकृति के साथ एक अनिवार्य वैमनस्य या हिंसा का भाव ही रखती है। आधुनिक प्रौद्योगिकी अनिवार्यतया हिंसक है क्योंकि मनुष्य जाति और पूरे परिवेश के साथ उसका कोई लगाव का रिश्ता नहीं विकसित होता। उसका पेट भरने के लिए अधिकाधिक प्राकृतिक साधनों की आवश्यकता होती है जो निरन्तर बढ़ती ही जा रही हैं तथा उनके भण्डार में इतनी तेजी से आ रही कमी को पूरा करने का कोई उपाय नहीं है। यदि इन साधनों का प्रयोग कम कर दिया जाता है तो यह प्रौद्योगिकी आर्थिक दृष्टि से घाटा देने लगता है या अत्यल्प लाभ ही दे पाती है और तब उस वांछित आर्थिक विकास की दृष्टि से अनुपयोगी हो जाती है जिसके लिए उसका विकास और स्थापन किया गया है। यही नहीं, इस प्रौद्योगिकी के ही परिणामस्वरूप पर्यावरण में जिस तरह का रासायनिक प्रदूषण फैल रहा है, वह धीरे धीरे केवल मनुष्य जाति को ही नहीं पूरे जीवन को नष्ट कर देने की आशंका पैदा करता जा रहा है। यह तो फिर भी हो सकता है कि इस तरह की प्रौद्योगिकी पर आश्रित उत्पादन व्यवस्था में व्यस्त समाजों की मंशा मानवीय श्रम के आर्थिक शोषण की न हो और वे एक समतामूलक समाज के विकास का सपना भी देख रहे हों लेकिन वे भी यह भूल रहे होते हैं कि जिस प्रौद्योगिकीआश्रित उत्पादन—प्रक्रिया को उन्होंने अपनाया है वह उनके मानवीय आशयों को अपनी प्रक्रिया में ही नष्ट कर देगी।

यह भलीभाँति प्रमाणित है कि किसी भी तरह का केन्द्रीकरण अनिवार्यतः मानवीय स्वतन्त्रता का हनन करता और किसी न किसी प्रकार के

अधिनायकवाद या सवसत्तावाद का जन्म देता है। दूसरी ओर, यह भी उतना ही सही है कि वतमान प्रौद्योगिकीआश्रित उत्पादन-प्रक्रिया और आर्थिक व्यवस्था मे आर्थिक और राजनीतिक सत्ता का केन्द्रीकरण अवश्यम्भावी है। इस प्रौद्योगिकी के लिए व्यापक पमाने पर जिस तरह के नीतिनिर्देशों और आर्थिक स्रोतो पर एकाधिकार की ही नही बल्कि बाजार पर भी अधिकाधिक नियन्त्रण की आवश्यकता होती है वह सत्ता के केन्द्रीकरण की ओर उन्मुख है जिस का परिणाम यह होता है कि मनुष्य राजनीतिक स्तर पर सवसत्तावादी होते जा रहे राज्य के सम्मुख और आर्थिक स्तर पर एकाधिकारवादी पूजी सस्थानो के सम्मुख अपने को हीन और असहाय अनुभव करन लगता है। एक श्रमिक के रूप मे भी यन्त्रोद्योग के सम्मुख वह अपने को बौना और अनुपयोगी महसूस करता है, जिसका सीधा मनोवज्ञानिक परिणाम यह होता है कि पहल ले सकने की मनोवृत्ति निरन्तर क्षीण होती चली जाती है और उसमे अन्तर्निहित विकास की सारी सम्भावनाएँ कुण्ठित होने लग जाती है। इस प्रकार प्रौद्योगिकी मनोज्ञानिक स्तर पर मनुष्य के लिए एक हिंसक प्रक्रिया ही प्रमाणित होती है। कार्ल फ्रेडरिक और ब्रजेजेस्की जसे समाजवज्ञानिको का अध्ययन यह प्रमाणित करता है कि अधिनायकतन्त्रीय और निरकुश शासन व्यवस्था के लिए सचार व्यवस्था, अस्त्र-शस्त्र तथा आर्थिक जीवन पर एकाधिपत्य आवश्यक है और वह किसी न किसी प्रकार के औद्योगिक आधार के बिना सम्भव नही है। दूसरी ओर, ऐरिक फ्रॉम जसे मनोवज्ञानिको की राय मे इस प्रौद्योगिकीआश्रित उत्पादन व्यवस्था मे मनुष्य स्वय एक वस्तु हो जाता है, मानव नही रहता, और अपने को असमथ अकेला और उद्विग्न अनुभव करता है।

इसलिए जब हम आर्थिक जीवन म अहिंसा के प्रतिफलन और मानवीय आशयो की बात करते हैं तो हमे यह भी बराबर देखत रहना होगा कि इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए जो प्रक्रिया हम अपना रहे है कही वह स्वय ही हिंसक या अमानवीय तो नही है। वतमान प्रौद्योगिकीआधारित उद्योग निश्चित रूप मे अहिंसा और मानववादी आधारो की उपेक्षा करते हैं—और तीसरी दुनिया के सन्दभ म तो वे आर्थिक असन्तुलन का कारण भी बनते हैं। उत्पादन-प्रक्रिया मे मानवीय आवश्यकताओ और सक्रिय भावात्मक मानवीय भागीदारी पर आधारित तकनीक ही एक अहिंसक और मानवीय आर्थिक व्यवस्था का आधार बन सकती है। इस तरह की आर्थिक व्यवस्था न केवल मानवीय चेतना के विकास का साध्य होगी बल्कि वह उसके भावी विकास का एक उपकरण भी सिद्ध होगी।

स्वामित्व का सवाल

आर्थिक प्रक्रिया अपनी प्रेरणा और परिणाम मे वस्तुत एक किस्म की सास्कृतिक प्रक्रिया है। अधिकाश लोग अर्थनीति और सस्कृति को एक दूसरे से पूर्णतया विलग मानते हैं, लेकिन गहराई म जाकर देखा जाये तो यही समझ मे आयगा कि भौतिक उत्पादन के मूल्यो के शास्त्र और मानवीय जीवनमूल्यो के शास्त्र मे अत सूत्रात्मक सम्बन्ध है। किसी भी आर्थिक प्रक्रिया का औचित्य इसी कसौटी पर परखा जाता है कि उसमे किसी समाज के सास्कृतिक आदर्शों का प्रतिबिम्बन हो रहा है या नही। सस्कृति समग्र जीवन के गुणात्मक उत्कर्ष की प्रक्रिया है, अत आर्थिक जीवन का भी उसके विस्तार की परिधि मे होना स्वाभाविक है और इसीलिए आर्थिक प्रक्रिया और व्यवस्था के लिए भी यह आवश्यक है कि वे समग्र जीवन के गुणात्मक विकास की प्रक्रिया मे अपना अपेक्षित योगदान करें। यदि ऐसा नही होता तो उस आर्थिक प्रक्रिया और व्यवस्था को मानवीय विकास की दृष्टि स अनुपयोगी या बाधक मानकर बदलना होगा।

कोई समाज अपनी आर्थिक प्रक्रिया मे क्या लक्ष्य निर्धारित करता तथा उन्हे कैसे पूरा करने की कोशिश करता है इसी मे उसकी सास्कृतिक दृष्टि प्रतिभासित होती है। प्रौद्योगिकी, उत्पादन के उद्देश्य और लक्ष्य तथा प्रकृति के साथ उसका रिश्ता जो आर्थिक प्रक्रिया का निर्धारण करते हैं मूलत किसी समाज की मूल्यदृष्टि अर्थात् सास्कृतिक दृष्टि पर निर्भर करते है। विभिन्न समाज अपनी अपनी आवश्यकता के अनुसार अलग अलग प्रकार की प्रौद्योगिकी को अपना सकते है। लेकिन यह आवश्यकता केवल आर्थिक आवश्यकता नही है क्योकि सिर्फ आर्थिक लाभ या उत्पादन वृद्धि की दृष्टि स देखने पर तो एक ही प्रकार की प्रौद्योगिकी सभी के लिए वरेण्य होनी चाहिए। लेकिन सिर्फ उत्पादन मे वृद्धि ही नही बल्कि समाज की अन्य आवश्यकताएँ और उद्देश्य आर्थिक प्रक्रिया का स्वरूप निर्धारण करते हैं।

लेकिन प्रौद्योगिकी ही नही, स्वामित्व का सवाल भी आर्थिक प्रक्रिया को सास्कृतिक प्रक्रिया से सलग्न कर देने वाला सवाल है। प्राकृतिक ससाधन समस्त मानवता की पूजी है अत उनका इस्तेमाल व्यक्तिगत लाभ के लिए

किस सीमा तक लिया जा सकता है ? यह सवाल मूलत आर्थिक नही है, यह एक सास्कृतिक सवाल है। इसी प्रकार मूल पूजी मानवीय श्रम है या सचित 'अतिरिक्त मूल्य' यह भी एक उलझा हुआ सवाल है जिसका समाधान आर्थिक नियमो के ही आधार पर नही बल्कि मानववादी आधारो पर देना होगा क्योकि आर्थिक प्रक्रिया की आवश्यकता मानवीय कल्याण और विकास के उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही तो होती है।

कुछ लोग स्वामित्व के सवाल पर विचार करते समय कार्य कुशलता और उसकी प्रेरणा के रूप म निजी लाभ को ही स्वीकार करते हैं और इस आधार पर पूजी पर निजी स्वामित्व के सिद्धान्त का औचित्य सिद्ध करते है। निजी स्वामित्व के समर्थन म वे सार्वजनिक स्वामित्व वाली व्यवस्था की खामियो को भी गिनाते हैं। लेकिन ऐसा करते समय वे यह भूल जाते है कि अगाध सम्पत्ति पर निजी स्वामित्व की छूट देने वाली व्यवस्था म कुछ लोगो से सार्वजनिक स्वामित्व के नाम पर अधिक श्रम और कार्यकुशलता की अपेक्षा करना भ्रान्तिपूर्ण है। उत्पादन म साधनो और सामाजिक पूजी पर निजी स्वामित्व या निजी लाभ के लिए उसके अधिकाधिक दोहन की छूट बुनियादी रूप से एक अमानवीय छूट है जो आर्थिक प्रक्रिया को मानवीय विकास का माध्यम नही बनाती बल्कि मनुष्य को आर्थिक प्रक्रिया का एक पुर्जा मान बनाकर छोड देती है। पूजीवाद की सारी बुराइया अन्तत पूजी और उद्योगो पर निजी स्वामित्व की धारणा को स्वीकार कर लेने से उत्पन्न बुराइया है।

लेकिन सार्वजनिक स्वामित्व के नाम पर जिस तरह का सरकारीकरण किया जाता है उसकी अपनी खामियाँ भी कम खतरनाक नही है। बार बार यह कहा जाता रहा है कि किसी भी प्रकार का केन्द्रीकरण किसी न किसी प्रकार के अधिनायकवाद या सर्वसत्तावाद को जन्म देता है। अर्थ या पूजी भी सत्ता का एक प्रमुख प्रकार है और उसका केन्द्रीकरण—चाहे उस पर सरकार का अधिकार ही क्या न हो — अनिवार्यत समाज म अलोकतान्त्रिक प्रवृत्तियो को बढावा देता है। कुछ समाजशास्त्रीय अध्ययन हमे इस निष्कर्ष तक पहुँचाते है कि अधिनायकवादी समाजो म जिन सस्थानो पर राज्य का एकाधिकार आवश्यक होता है उनमे अर्थ व्यवस्था सर्वप्रमुख है। उस पर पूर्ण नियन्त्रण के बिना कोई राज्य अधिनायकवादी नही हो सकता। इसका सीधा तात्पर्य यही हुआ कि सार्वजनिक स्वामित्व के नाम पर आर्थिक प्रक्रिया पर पूर्ण सरकारी अधिकार एक सीमा तक सर्वसत्तावादी प्रवृत्ति को निमन्त्रण देना है।

ऐसी स्थिति म आर्थिक सत्ता और प्रक्रिया का वह विकेन्द्रीकरण ही एकमात्र विकल्प रहता है जिसम स्थानीय स्तर पर व्यक्तिगत पहल की स्वतन्त्रता हो

लेकिन यह पहल एकाधिकार या सामाजिक साधनों के असंतुलित निजी स्वामित्व के रूप में विकसित न होने पाए। साथ ही आर्थिक सत्ता का केन्द्रीकरण सरकार में न होकर समाज और श्रमिकों के अपने नियन्त्रण वाली विकेन्द्रीकृत इकाइयों में हो। इसके लिए जटिल प्रौद्योगिकी और केन्द्रीकृत स्वामित्व—क्योंकि दोनों स्वभावतः एक दूजे से जुड़े हैं—की व्यवस्था को बदलना होगा। शुमाकर ने कहा था कि हमें वैज्ञानिकों और शिल्प विज्ञानियों से ऐसी पद्धतियाँ और उपस्कर चाहिए जो छोटे पैमाने पर काम करने के लिए उपयुक्त एवं इतने सस्ते हों कि लगभग प्रत्येक व्यक्ति की पहुँच के भीतर हों, साथ ही वे मनुष्य की सृजनात्मक वृत्ति के अनुकूल हों। इस प्रकार की प्रौद्योगिकी के बिना मनुष्य का आर्थिक श्रम उसकी जैविक आवश्यकताओं और सुविधाओं की पूर्ति के लिए उपयोगी हो भी तो उसकी चेतना के सृजनात्मक विकास के लिए कतई उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। स्वामित्व की समस्या का समाधान भी इस प्रौद्योगिकी के बिना सम्भव नहीं है। आर्थिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण आर्थिक प्रक्रिया के विकेन्द्रीकरण के बिना मुमकिन नहीं हो सकता। विकेन्द्रीकृत स्वामित्व के कई स्वरूप हो सकते हैं। ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त, कारखानों पर श्रमिक नियन्त्रण अथवा सहकारी उद्योग आदि ऐसी ही पद्धतियाँ हैं जिनके आधार पर विभिन्न समाजों की परिस्थितियों के अनुकूल तरीके खोजे जा सकते हैं। लेकिन यह तय है कि किसी भी प्रकार का केन्द्रीकृत स्वामित्व—चाहे उसका स्वरूप निजी हो या सार्वजनिक—केवल आर्थिक सवाल ही नहीं है बल्कि हमारे पूरे जीवन की प्रक्रिया के साथ जुड़ा हुआ सवाल है अतः वह भी मूलतः एक सांस्कृतिक सवाल है। हम किस तरह की आर्थिक व्यवस्था और प्रक्रिया को वरीयता देते हैं इसी से यह भी तय हो जाता है कि मनुष्य और जीवन की हमारी चिन्ता की मूल प्रेरणा और स्वरूप क्या है यानी हमारी सांस्कृतिक दृष्टि क्या है।

धर्म : चेतना बनाम संगठन

धर्म पर किसी भी तरह का विचार विमर्श करने से पूर्व यह समझ लेना जरूरी है कि वह सर्वप्रथम एक निजी अनुभूति है। जब हम अपनी निजी अनुभूति को अन्य लोगों तक सम्प्रेषित करते और उन्हें वह रास्ता बताते हैं जिससे वे भी उस प्रकार की अनुभूति तक पहुँच सकते है, तब ही किसी धार्मिक सम्प्रदाय का जन्म होता है। अत धर्म अपने मूल रूप में अपने अस्तित्व की ही आनन्दानुभूति है जिसे किसी एक ही प्रकार में बद्ध नहीं किया जा सकता। कुछ लोगों के लिए यह आनन्दानुभूति ईश्वर जैसी किसी साकार सत्ता की कल्पना के माध्यम से ही सम्भव हो पाती है तो अन्य कुछ के लिए किसी निराकार निर्वैयक्तिक परमचेतना से जुड़कर। धर्मों के विकास का इतिहास इस बात का प्रमाण है कि साकार या वैयक्तिक ईश्वर जैसी कोई धारणा धर्मानुभव के लिए आवश्यक नहीं है। अपने मूल रूप में वेदान्त, ताओ या प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में ईश्वर जैसी किसी सत्ता की आवश्यकता या अनुभव नहीं किया गया है और उसके बिना ही अपने अस्तित्व की चरम आनन्दानुभूति को सम्भव माना गया है। अन्य धर्मों में भी ऐसे बहुत से रहस्यवादी सम्प्रदाय हैं जो ध्यान प्रक्रिया के माध्यम से अपने अस्तित्व की आनन्दानुभूति को ही चरम धार्मिक अनुभव मानते हैं। इसलिए धर्म पर विचार करते समय किसी उपासना पद्धति—यद्यपि वह किसी भी धर्म का अंग हो सकती है—और धर्म को एक ही मानने पर आग्रह नहीं होना चाहिए तथा किसी भी उपासना पद्धति पर एकांगी और असहिष्णु आग्रह नहीं किया जाना चाहिए।

धर्मानुभव या आध्यात्मिक अनुभूति यदि मानवीय चेतना का ही एक विशिष्ट अनुभव और विकास है तो उसकी प्रामाणिकता की परख इसी बात से हो सकती है कि उससे स्वयं मानवीय चेतना की स्वतन्त्रता और सृजनशीलता को कितनी पुष्टि मिलती है। इसलिए किसी एक धार्मिक सम्प्रदाय की पद्धति को ही एकमात्र पद्धति मानना या मानवीय चेतना के सम्पूर्ण विकास को किसी एक ही उपासना पद्धति के घेरे में बन्द कर देने की असहिष्णु कोशिश मूलत एक चेतना विरोधी कोशिश हो जाती है अत वह प्रकारान्तर से एक धर्म-विरोधी कोशिश भी हो जाती है। ईश्वर यदि यह है तो इतना निश्चय नहीं

हो सकता कि एक प्रकार की उपासना पद्धति या अन्यथा अन्य तरीका से उपासना करना बाला या अन्य काल के लिए ताकीद मानना में तद्रूप होता है। इस सन्दर्भ में एक भारतीय रहस्यवादी सन्त का यह कथन अधिक सही लगता है कि अलग अलग दीपों में विभिन्न प्रकार के तेल और भिन्न भिन्न प्रकार की बातियाँ हो सकती हैं लेकिन जब वे जलते हैं तो हम एक ही प्रकार की लौ और प्रकाश मिलता है।

इसलिए धार्मिक सम्प्रदाय के आधार पर किसी बिरादरी को बनाना और अन्य का अपने से सामाजिक स्तर पर अलग मानने की धारणा असंगत ही नहीं बल्कि अधार्मिक भी है। धर्म समूची सृष्टि में एकत्व देखता है अतः यदि हम धर्म के आधार पर ऐसी राजनीतिक या सामाजिक बिरादरी बनाते हैं जिसे अन्य रूप से अलग और श्रेष्ठ माना जाए तो निश्चय ही यह धर्म की मूल भावना के ही विपरीत है क्योंकि इससे तो मानवता के एकत्व की धारणा भी खण्डित हो जाती है—पूरे जीवन या सृष्टि के एकत्व की बात तो तब और भी दूर चली जाती है। धर्म अंततः एक निजी अनुभव है अतः दो समान अनुभवों वाले व्यक्ति धार्मिक अनुभव के क्षेत्र में एक दूसरे के अधिक निकट हो सकते हैं—यद्यपि सभी धार्मिक अनुभवों का वर्णन एक ही प्रकार से किया गया है—लेकिन इस आधार पर राजनीतिक या आर्थिक मामलों में वे अनिवार्यतया एक दूसरे के अधिक करीब नहीं हो पाते। धर्म एक साधना पद्धति है वह कोई सामाजिक आर्थिक संगठन नहीं है और ऐसा संगठन तो कतई नहीं जिसके हित या स्वार्थ बाकी मानव समाज के हितों से अलग या विपरीत हों।

धर्मानुभूति वस्तुतः अपने को जानने की आनन्दानुभूति है। यह जानना अपने को दूसरों में अर्थात् ममेतर में अपने को जानना भी हो सकता है और ममेतर को अपने में जानना भी और इसलिए धार्मिक व्यक्ति ही वस्तुतः कह सकता है कि 'जो मेरा है वही ममेतर है।' इन दोनों ही प्रकारों से अपने को जानना अपने का विस्तार देना भी है और सृष्टि मात्र के साथ एक अस्तित्वगत रहस्यात्मक रिश्ते का अनुभव करना भी। यही कारण है कि दुनिया के सभी रहस्यवादियों में एक बात समान मिलती है और वह है सभी प्राणियों बल्कि सृष्टि मात्र में एकत्व की अनुभूति। यह अनुभूति ही धर्म का वास्तविक मूल तत्व है। इसलिए धर्म के पालन के नाम पर बाह्य आचरण के कुछ नियमों का पालन, प्रतीकों की पूजा और कुछ शास्त्रों का अनुकरण करने का आग्रह किया जाता है तो उसका महत्त्व एक सीमा तक ही है। इनमें से किसी की भी आत्यंतिक सार्थकता नहीं है इनके बिना भी धार्मिक अनुभूति सम्भव है अतः इन चीजों को ही धर्म मान लेना पूर्णतः सगत नहीं है। इनमें से प्रत्येक चीज

को कुछ लोगों के लिए कुछ व्यावहारिक महत्त्व हो सकता है और उन्हें अपनी साधना प्रक्रिया में इनसे मदद भी मिल सकती है और इस प्रकार सम्बन्धित व्यक्तियों के लिए एक सीमा तक इन सबकी सार्थकता भी हो सकती है। लेकिन जो लोग इस सारी प्रक्रिया में से गुजरे बिना ही धार्मिक लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं, उन्हें किसी बाह्य धार्मिक नियम, प्रतीक या शास्त्र से बाधित करना आवश्यक और संगत नहीं कहा जा सकता।

इसी तरह यह भी अनिवार्य नहीं कहा जा सकता कि धार्मिक आचरण के लिए किसी विशेष धर्म में आस्था हो ही बल्कि किसी भी तरह की विशिष्ट चेतना का अलग से होना भी आवश्यक नहीं समझा जाना चाहिए। यदि हम दूसरों में अपनी अनुभूति कर सकते हैं या अपने में समतर को अनुभव कर पाते हैं और हमारा आचरण इस बोध से अनुप्राणित है तो हमारा आचरण सहजरूप से धार्मिक आचरण ही है—उसमें इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि हम किसी विशेष उपासना पद्धति में आस्था रखते हैं या नहीं अथवा हम अपने धार्मिक आचरण के प्रति चिंतन सजग हैं। जीवन का प्रत्येक कर्म एक धार्मिक आचरण हो सकता है यदि हम उसके माध्यम से अपने अहं की झूठी सीमा का अतिक्रमण कर समतर के साथ एक अस्तित्वगत सर्जनात्मक रिश्ता अनुभव कर सकें। इन्हीं अर्थों में गांधीजी संत थे और वह कहते भी थे कि राजनीति मेरे लिए एक प्रकार की आध्यात्मिक साधना है। इस दृष्टि से भौतिकवादी क्रान्तिकारियों को भी धार्मिक ही स्वीकार करना चाहिए—चाहे उनका किसी धार्मिक मतवाद या धर्म की धारणा में विश्वास भी न रहा हो—क्योंकि वे अपने कर्म के माध्यम से अपने अपने अहं की परिधि के बाहर आकर पूरे मानव समाज के साथ अपने एकत्व का अनुभव कर रहे थे। इतिहास की प्रक्रिया का एक निर्वैयक्तिक सत्य की तरह अनुभव कर अपने को उसमें मिला देना एकत्व की किसी गहरी अनुभूति के बिना सम्भव नहीं है, और जिन महापुरुषों ने अपने जीवन को एकनिष्ठ होकर किन्हीं बड़े उद्देश्यों के लिए अर्पित कर दिया हो उन्हें धार्मिक ही मानना होगा, चाहे वे स्वयं उसे स्वीकार न भी करें—बल्कि मानना चाहिए कि यदि कोई व्यक्ति ईश्वर या किसी ऐसी ही अदृश्य शक्ति में विश्वास रखे बिना भी पूरी मानव जाति के प्रति अस्तित्वगत लगाव का अनुभव करता है तो उसका यह लगाव अधिक सहज और गहरा है क्योंकि वह उसके बदले किसी तरह की कृपा प्राप्त करने का इच्छुक भी नहीं है। इस दृष्टि से देखा जाए तो धर्म और समाजवाद एक-दूसरे के विरुद्ध नहीं होते—बल्कि दोनों की अनुभूति एक ही दिशा की ओर ले जा सकती है। वे एक दूसरे के विरोधी तभी होते हैं जब वे अनुभूति या बोध न रहकर अपने संगठन होने को अधिक महत्त्व देने लगें।

धार्मिकता और शास्त्रानुकूलता

यदि सृष्टि मात्र के साथ एक अस्तित्वगत रहस्यात्मक रिश्ते का अनुभव ही धर्मानुभव है तो धार्मिक आचरण और धार्मिक बोध के सम्बन्ध में भी इसी दृष्टि से विचार करना वांछनीय होगा। सामान्यतया धार्मिक आचरण के निर्धारण में दो प्रकार के कार्यों पर विचार किया जाता है—सामान्य नैतिक और मानवीय कार्य तथा उपासना पद्धति से सम्बन्धित नियम एवं उपासना प्रक्रिया। पहली कोटि में साधारणतया वे सभी धारणाएँ आ जाती हैं जिन्हें हम नैतिक या मानवतावादी धारणाएँ कहते हैं। सच्चाई, दया, करुणा, दान आदि सभी इसी कोटि के अन्तर्गत गिने जा सकते हैं—ये आचरण के कुछ ऐसे आदर्श हैं जिन पर सभी धर्म सहमत होते हैं और अलग अलग उपायों से मनुष्य में इन प्रवृत्तियों के विकास को प्रेरणा देने का उपक्रम करते रहते हैं। इसलिए इन आदर्शों को किसी एक विशेष धर्म या पंथ के अन्तर्गत न मानकर मानव धर्म का नाम भी दे दिया जाता है। इस तरह के आचरण की एक सामाजिक प्रतिष्ठा भी रहती है और कई दफा यह सामाजिक प्रतिष्ठा या परलोक में सुख की कामना भी इस प्रकार के व्यवहार का मूल कारण बन जाती है।

दूसरी कोटि विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों द्वारा निर्धारित उपासना पद्धति और उसके लिए निर्धारित कर्मों का पालन है। इस सम्बन्ध में प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी विशिष्टता रखता है और एक अलग ही प्रकार की उपासना पद्धति निश्चित कर उसी के पालन पर आत्यन्तिक जोर देता है। ये उपासना पद्धतियाँ चाहे एक ही लक्ष्य तक पहुँचाने का दावा करती हों लेकिन प्रत्येक सम्प्रदाय का आग्रह अपनी ही पद्धति पर रहता है और वास्तव में वह सम्प्रदाय किसी भी व्यक्ति के धार्मिक आचरण को तभी वैध मानता है जब सम्बन्धित व्यक्ति उसी सम्प्रदाय की उपासना पद्धति में विश्वास करता हो और उसके अनुकूल आचरण करने के लिए प्रस्तुत हो। यही कारण है कि जहाँ एक सम्प्रदाय मूर्ति पूजा को कुफ्र मानता है वहीं दूसरा सम्प्रदाय मूर्तिपूजा को धार्मिक भावना की सबसे सरल और प्रभावी अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार करता है। कोई सम्प्रदाय परम सत्ता को वैयक्तिक मानता है तो कोई निर्वैयक्तिक और

इसी तरह के मतभेदों के आधार पर उपासना पद्धति में भी फर्क पाये जाते हैं।

यही कारण है कि प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय अपने सिद्धान्तों या धारणाओं के अनुसार धार्मिक आचरण के कुछ निश्चित नियम भी निर्धारित करता है। प्रत्येक सम्प्रदाय में इसीलिए अपने अलग धर्मशास्त्रों का विकास होता आया है और उस सम्प्रदाय के अनुयायी के धार्मिक आचरण की परख उन धर्मशास्त्रों के आधार पर ही की जाती है। व्यक्ति के पूरे जीवन को इन धर्मशास्त्रों से बांधने की कोशिश की जाती है ताकि उसका प्रत्येक कार्य धार्मिक कर्म हो जाय। इसलिए प्रत्येक सम्प्रदाय में एक ऐसा संस्थान भी विकसित हो जाता है जिसका मूल कार्य इन धार्मिक नियमों का पालन करवाना, उपासना पद्धति को सिखाना या उसका प्रचार करना और बदलती हुई परिस्थितियों में आचरण के शाश्वत नियमों की शास्त्रानुकूल नयी व्याख्या करना होता है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय कुछ धर्मशास्त्रों और उनके किसी संरक्षक संस्थान पर निर्भर करता है और उस सम्प्रदाय में वही कर्म धार्मिक आचरण की कोटि में आता है जिसे शास्त्र या उसके संरक्षक संस्थान की स्वीकृति प्राप्त हो।

लेकिन यह अनिवार्य नहीं है बल्कि अक्सर इसके विपरीत अनुभव ही अधिक हुए हैं कि शास्त्रानुकूल या संस्थानुकूल आचरण करने पर किसी व्यक्ति को धार्मिक अनुभूति भी हो सके—क्योंकि धर्म मूलतः अनुभूति या बोध है। किसी भी प्रकार के भय सामाजिक, वैयक्तिक अथवा साम्प्रदायिक या लोभ—लौकिक या पारलौकिक—से प्रेरित आचरण अनिवार्यतया धार्मिक आचरण नहीं है। यदि हम दुखी पर इसलिए दया करते हैं कि दया करना धार्मिक होना है तो हम चाहे कितना ही उच्च आचरण कर रहे हों वह वास्तविक अर्थों में धार्मिक आचरण नहीं है। वह धार्मिक आचरण तभी है जब हममें दया करने या उसकी अच्छाई का अलग से कोई बोध नहीं है बल्कि किसी का दुख हमारा अपना दुख है क्योंकि उसमें हमारा सहजसिद्ध अस्तित्वगत रिश्ता है—चाहे उस दुखी व्यक्ति की हम उतनी सहायता न भी कर पायें जितनी वह दूसरा व्यक्ति करता है जिसका आचरण किसी सहज बोध से नहीं वरन् धर्मशास्त्र से प्रेरित है। एक व्यक्ति नियमित उपासना करता और उसकी सारी प्रक्रिया का बिना किसी बोध के यन्त्रवत् पालन करता है तो भी उसका आचरण वास्तविक अर्थों में धार्मिक नहीं है क्योंकि वह आचरण उसकी चेतना का विस्तार नहीं करता उसे अपने अहं के छोटे दायरे से बाहर निकालने में सहायक नहीं होता। दूसरी ओर, यदि बिना किसी उपासना पद्धति के

नियमों उपनियमों का पालन किये कोई व्यक्ति अपने अहं के घेरे को तोड़कर समग्र के साथ एकत्व का अनुभव करता है तो वह किसी सम्प्रदाय विशेष के नियमों से बद्ध न होते हुए भी पूर्णतया धार्मिक है। इसलिए कई बार हमारा आचरण धर्मसम्मत तो हो सकता है पर धार्मिक नहीं होता क्योंकि उसकी मूल प्रेरणा सहज बोध न रहकर शास्त्र या संस्थान का भय और उसके अनुकूल होने की इच्छा होती है।

इसलिए धर्म पर विचार करते समय हमें धार्मिक आचरण और धर्मसम्मत अथवा शास्त्रसम्मत आचरण में फर्क करना होगा। शास्त्रसम्मत आचरण का किन्हीं विशेष परिस्थितियों में एक व्यवस्था को बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान हो सकता है लेकिन इसके बावजूद उसे तब तक धार्मिक आचरण नहीं माना जा सकता—और इसलिए उस आचरण से कोई धार्मिक उपलब्धि भी नहीं हो सकती—जब तक उसकी मूल प्रेरणा सहज बोध नहीं है। दूसरी ओर, यदि मूल अर्थों में धर्मानुभव से प्रेरित आचरण शास्त्रसम्मत नहीं है या व्यवस्था पर आघात करता है तब भी धार्मिक आचरण ही माना जायेगा क्योंकि वह सहज बोध है अर्थात् उसके माध्यम से हमारे अपने अहं का घेरा टूटता है और हम सम्पूर्ण सृष्टि के साथ एकत्व के बोध की ओर सहज उन्मुख हो रहे होते हैं। सारी धार्मिक साधना इस एकत्व के सहज बोध को प्राप्त होने की साधना है। धर्मशास्त्रों में निहित आचरण के नियमों का मूल उद्देश्य भी यही है लेकिन संस्थान मूल प्रेरणा की बजाय औपचारिक आचरण को अधिक महत्त्व देने लगते हैं और उसका नतीजा यह होता है कि धर्म से नहीं शासन और संस्थान से जुड़ जाते हैं और तब हमारा आचरण शास्त्रसम्मत होते हुए भी धार्मिक नहीं रह पाता।

इसलिए धार्मिक आचरण के प्रशिक्षण में शास्त्रानुशासन की नहीं आत्मानुशासन की आवश्यकता होती है। उसके लिए संस्थान के घेरों में अधिक से अधिक लोगों को समेटने की बजाय घेरों को तोड़ देने की आवश्यकता होती है। संस्थान अनिवार्यतया कुछ औपचारिकताओं की माँग करते हैं और ये औपचारिकताएँ ही एक साम्प्रदायिक संस्थान को दूसरे साम्प्रदायिक संस्थान से अलग करती हैं। इसलिए अपने अलग अस्तित्व को बनाये रखने के लिए प्रत्येक संस्थान अपने को दूसरों से अलग करने वाले आचरण पर अधिक आग्रह करता है। मूल प्रेरणा पर उसका बल कम हो जाता है क्योंकि सभी धार्मिक सम्प्रदायों का भेद वहाँ मिट जाता है। प्रत्येक संस्थान सत्ता का एक प्रकार होता है और इसी कारण वह धर्म की नहीं सत्ता की प्रेरणा से निर्देशित होने लगता है। सभी धर्मों का इतिहास इस बात का साक्ष्य देता है कि समय

समय पर ऐसे धार्मिक व्यक्तित्व हुए हैं जिन्होंने संस्थान की औपचारिकता, सत्ताप्रियता और रूढ़िबद्धता को तोड़ा है क्योंकि इनके बिना सही धार्मिक आचरण सम्भव नहीं रह गया था। यह और बात है कि कालान्तर में उन्हीं के व्यक्तित्व और उपदेशों के औपचारिक स्वरूप के आधार पर नये संस्थान निर्मित कर लिये गये।

यह आश्चर्यजनक है कि आधुनिक काल में भी धर्म को संस्थानों या शास्त्रों से जोड़कर देखा जाता है। दुनिया में अभी भी ऐसे देश और समाज हैं जिनमें शास्त्रानुकूल आचरण को ही धार्मिक आचरण माना जाता है और इसलिए प्रत्येक सम्प्रदाय या तो अपने को तंग घेरे में सीमित कर लेता है या दूसरे सम्प्रदायों के प्रति आक्रामक रुख अख्तियार कर लेता है। कभी कभी तो लगता है कि धार्मिक होने का एक आयाम अनिवार्यतया संस्थानपरक होना भी है।

यौन जीवन का नैतिक आधार

यद्यपि विवाह अब कोई धार्मिक संस्कार नहीं रह गया है और आधुनिक समाजों में तो स्पष्टतः उसे विपरीत यौन वाले दो व्यक्तियों के एक दूसरे के साथ जीवन बिताने की आकांक्षा की अभिव्यक्ति माना जाता है तो भी उसे केवल यौन आकर्षण या सन्तानोत्पत्ति की आकांक्षा पर आधारित मानना भी एक भूल होगी।

विवाह को यौन आकर्षण की आवश्यक परिणति तभी माना जा सकता है जब हम यौन क्रिया को एक धार्मिक स्वीकृति देने का आग्रह करें क्योंकि उसके बिना विवाहित यौन और अविवाहित यौन में कोई बुनियादी और वास्तविक भेद नहीं रह जाता। इस तरह के सम्बन्धों पर तब सिर्फ उपयोगिता की दृष्टि से ही विचार किया जा सकता है, नैतिक दृष्टि से नहीं। लेकिन यह आश्चर्यजनक है कि पारम्परिक समाजों में ही नहीं अपने को आधुनिक और धर्मनिरपेक्ष मानने वाले समाजों में भी यौन आचरण को अधिकांशतः रूढिबद्ध नैतिकता—जिसका आधार साम्प्रदायिक मान्यताएँ ही रही हैं—की ही कसौटी पर परखा जाता है और कहीं गहरे में यह आशंका अवचेतन तक घर की हुई है कि विवाहेतर यौन को मान्यता देने या उसे निषिद्ध न मानने पर पूरे समाज का ढाँचा ही जैसे बिखर जायगा।

यदि विवाह न करना कोई अनैतिक बात नहीं है और किसी भी व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार अकेले जीवनयापन का अधिकार है तो विवाहेतर यौन को भी प्रचलित नैतिक नियमों के आधार पर जाँचने—परखने का कोई औचित्य नहीं है। लेकिन इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि विवाहेतर यौन—सम्बन्धों को वाछनीय ही समझा जाय और विवाह को एक अनावश्यक संस्था माना जाय। दरअस्ल, यह दो व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों पर निर्भर करता है कि वे निरन्तर एक सहयोगी और भावात्मक लगाव भरा जीवन साथ साथ बिताना चाहते हैं। लेकिन दोनों में से किसी एक का या दोनों का यौन सम्पर्क किन्हीं परिस्थितियों में किसी अन्य से हो गया है इस आधार पर निरन्तर सहयोग और भावात्मक लगाव की बात को भुलाकर अलग हो जाना उचित नहीं कहा जा सकता। यदि केवल यौन सम्पर्क ही साथ रहने का या

भावात्मक लगाव का, प्रेम का बुनियादी आधार नहीं है तो केवल उसी को आधार बनाकर सम्बन्ध विच्छेद कर लेना विवाह जैसी संस्था को बहुत कच्ची नींव पर निर्मित करना है। इस निरन्तर साहचर्य के लिए पारस्परिक पारदर्शी और विश्वास एक अनिवार्य शर्त है। शायद इसीलिए कुछ लोग विवाहेतर यौन सम्बन्धों को पारस्परिक विश्वास का खण्डित हो जाना मानते हैं क्योंकि वर्तमान परिस्थितियों में ऐसे सम्बन्धों को अक्सर गुप्त रखा जाता है—लेकिन यह गोपनीयता प्रचलित नैतिकता के डर की वजह से ही अधिक है।

लेकिन इसका तात्पर्य यह कतई नहीं है कि मनुष्य अपने यौन आचरण के औचित्य अनौचित्य पर कोई विचार न करे अथवा हर प्रकार के यौन आचरण को उचित ही समझे। मनुष्य एक चेतनासम्पन्न प्राणी है, अतः उसके हर आचरण में मूल्यबोध और उत्तरदायित्व के भाव के प्रतिबिम्बित होने की अपेक्षा करना सहज व स्वाभाविक है। पशुजीवन और मानवजीवन में एक बुनियादी और गुणात्मक फर्क यह है और यही उसे श्रेष्ठ दर्जा देता और मानव बनाता है कि मानवजीवन केवल आवेगों से संचालित नहीं है बल्कि आवेगों को सिर्फ स्नायविक और जैविक स्तर से ऊपर उठाता और उन्हें सृजनशील चेतना और मूल्यबोध से अनुप्राणित करता है। इसी प्रक्रिया का नाम संस्कृति है। जिस प्रकार हम यह मानते हैं कि मनुष्य का व्यवसाय सिर्फ उसे आर्थिक सुरक्षा ही नहीं बल्कि सृजनात्मक सुख दे ताकि उसमें अपने कर्म से अलगाव न पनपा हो, मकान सिर्फ आवास की आवश्यकता को ही पूरा नहीं करे बल्कि उसमें एक कलात्मक संतोष भी मिले, आहार खान पान तथा कपड़े आदि सिर्फ जैविक आवश्यकता की ही पूर्ति न करें बल्कि व्यक्ति की सुरुचि और सौन्दर्य-सम्पन्नता को अभिव्यक्त करें उसी प्रकार मनुष्य को यह भी देखना होगा कि उसका यौन आचरण भी केवल स्नायविक तनाव या काम की जैविक आवश्यकता की ही पूर्ति पर न अटक जाए बल्कि उसके व्यक्तित्व का सृजनात्मक विकास भी करे। किन्हीं विशेष और असाधारण परिस्थितियों में स्नायविक तनाव के शमन या जैविक आवश्यकता की पूर्ति का आलम्ब पाना महत्त्व का हो सकता है लेकिन सामान्य परिस्थितियों में उसे मान्यताओं की कसौटी पर वांछनीय आचरण नहीं माना जा सकता।

यौन जीवन का नैतिक आधार

यद्यपि विवाह अब कोई धार्मिक संस्कार नहीं रह गया है और आधुनिक समाजों में तो स्पष्टतः उसे विपरीत यौन वाले दो व्यक्तियों के एक दूसरे के साथ जीवन बिताने की आकांक्षा की अभिव्यक्ति माना जाता है तो भी उसे केवल यौन आकर्षण या सन्तानोत्पत्ति की आकांक्षा पर आधारित मानना भी एक भूल होगी।

विवाह को यौन आकर्षण की आवश्यक परिणति तभी माना जा सकता है जब हम यौन क्रिया को एक धार्मिक स्वीकृति देने का आग्रह करें क्योंकि उसके बिना विवाहित यौन और अविवाहित यौन में कोई बुनियादी और वास्तविक भेद नहीं रह जाता। इस तरह के सम्बन्धों पर तब सिर्फ उपयोगिता की दृष्टि से ही विचार किया जा सकता है, नैतिक दृष्टि से नहीं। लेकिन यह आश्चर्यजनक है कि पारम्परिक समाजों में ही नहीं अपने को आधुनिक और धर्मनिरपेक्ष मानने वाले समाजों में भी यौन आचरण को अधिकांशतः रूढ़िबद्ध नैतिकता—जिसका आधार साम्प्रदायिक मान्यताएँ ही रही हैं—की ही कसौटी पर परखा जाता है और कहीं गहरे में यह आशंका अवचेतन तक घर की हुई है कि विवाहेतर यौन को मान्यता देने या उसे निषिद्ध न मानने पर पूरे समाज का ढाँचा ही जैसे बिखर जायगा।

यदि विवाह न करना कोई अनैतिक बात नहीं है और किसी भी व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार अकेले जीवनयापन का अधिकार है तो विवाहेतर यौन को भी प्रचलित नैतिक नियमों के आधार पर आँकने-परखने का कोई औचित्य नहीं है। लेकिन उसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि विवाहेतर यौन-सम्बन्धों को वांछनीय ही समझा जाय और विवाह को एक अनावश्यक संस्था माना जाय। दरअसल यह दो व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों पर निर्भर करता है कि वे निरन्तर एक सहयोगी और भावात्मक लगाव भरा जीवन साथ साथ बिताना चाहते हैं। लेकिन दोनों में से किसी एक का या दोनों का यौन सम्पर्क किन्हीं परिस्थितियों में किसी अन्य से हो गया है इस आधार पर निरन्तर सहयोग और भावात्मक लगाव की बात को भुलाकर अलग हो जाना उचित नहीं कहा जा सकता। यदि केवल यौन सम्पर्क ही साथ रहने का या

भावात्मक लगाव का, प्रेम का बुनियादी आधार नहीं है तो केवल उसी को आधार बनाकर सम्बन्ध विच्छेद कर लेना विवाह जैसी संस्था को बहुत कच्ची नींव पर निर्मित करना है। इस निरन्तर साहचर्य के लिए पारस्परिक पसन्दगी और विश्वास एक अनिवार्य शर्त है। शायद इसीलिए कुछ लोग विवाहेतर यौन सम्बन्धों को पारस्परिक विश्वास का खण्डित हो जाना मानते हैं क्योंकि वर्तमान परिस्थितियों में ऐसे सम्बन्धों को अक्सर गुप्त रखा जाता है—लेकिन यह गोपनीयता प्रचलित नैतिकता के डर की वजह से ही अधिक है।

लेकिन इसका तात्पर्य यह कतई नहीं है कि मनुष्य अपने यौन आचरण के औचित्य अनौचित्य पर कोई विचार न करे अथवा हर प्रकार के यौन आचरण को उचित ही समझे। मनुष्य एक चेतनासम्पन्न प्राणी है, अतः उससे हर आचरण में मूल्यबोध और उत्तरदायित्व के भाव के प्रतिबिम्बित होने की अपेक्षा करना सहज व स्वाभाविक है। पशुजीवन और मानवजीवन में एक बुनियादी और गुणात्मक फर्क यह है और यही उसे श्रेष्ठ दर्जा देता और मानव बनाता है कि मानवजीवन केवल आवेगों से संचालित नहीं है बल्कि आवेगों को सिर्फ स्नायविक और जैविक स्तर से ऊपर उठाता और उन्हें एक सृजनशील चेतना और मूल्यबोध से अनुप्राणित करता है। इसी प्रक्रिया का नाम संस्कृति है। जिस प्रकार हम यह मानते हैं कि मनुष्य का व्यवसाय सिर्फ उसे आर्थिक सुरक्षा ही नहीं बल्कि सृजनात्मक सुख दे ताकि उसमें अपने कर्म से अलगाव न पैदा हो, मकान सिर्फ आवास की आवश्यकता को ही पूरा नहीं करे बल्कि उससे एक कलात्मक संतोष भी मिले, और खान पान तथा कपड़े इत्यादि सिर्फ जैविक आवश्यकता की ही पूर्ति न कर बल्कि व्यक्ति की सुरुचि और संस्कार सम्पन्नता को अभिव्यक्त करें, उसी प्रकार मनुष्य को यह भी देखना होगा कि उसका यौन आचरण भी केवल स्नायविक तनाव का शमन या जैविक आवश्यकता की ही पूर्ति पर न अटक जाय बल्कि उसके व्यक्तित्व का सृजनात्मक विकास भी करे। किन्हीं विशेष और असाधारण परिस्थितियों में स्नायविक तनाव के शमन या जैविक आवश्यकता की पूर्ति का आपद्धर्म वाला महत्त्व हो सकता है लेकिन सामान्य परिस्थितियों में उसे मानवमूल्यों की कसौटी पर वांछनीय आचरण नहीं माना जा सकता।

इसलिए यौन सम्बन्धों को भी केवल आवेग के शमन या दैहिक आकर्षण तक सीमित कर देना मानवत्व की अवमानना है। यौन सम्बन्ध दो स्वतन्त्र व्यक्तियों के मिलन की—ऐसे मिलन की जिसमें दोनों व्यक्तित्व और भी सम्पन्न होते हैं—प्रक्रिया और अभिव्यक्ति है। इसलिए यह मूलतः सृजनात्मक सम्बन्ध है। किसी भी प्रकार की वेश्यावृत्ति और बलात्कार अनैतिक है तो

इसलिए कि उनमें सर्जनात्मक विवशता, पाशविकता और मानवत्व की अवमानना है। जिस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में किसी की विवशता का लाभ उठाकर अपने स्वार्थ की पूर्ति करना शोषण है, उसी प्रकार किसी की आर्थिक विवशता, सामाजिक दीनता या दैहिक कमजोरी का लाभ उठाकर यौन तुष्टि प्राप्त करना भी दमन है, शोषण है और इसीलिए अनैतिक है, अपराध है, पशुता है और मानसिक विकृति है।

इस प्रकार एक ओर जब यौन सम्बन्धों के औचित्य को सिर्फ विवाह के आधार पर नहीं परखा जा सकता, उसी प्रकार दूसरी ओर काम लोलुपता और विकृत काम चेष्टाओं को भी मुक्त यौन के नाम पर उचित नहीं ठहराया जा सकता। कामलोलुपता की अबाध स्वीकृति जहां विकृत मनोवृत्ति और पाशविकता की स्वीकृति है वहीं यौन आकर्षण को अनिवार्यतः विवाह की परिधि में बन्द कर देना भी एक आवश्यक सर्जनात्मक मानवीय क्रिया की सहज जीवन्तता को समाप्त कर उसे एक ऐसी आत्माहीन जैविक प्रक्रिया मात्र कर देना है जो मानव के सर्जनात्मक विकास में कम से कम कोई सकारात्मक भूमिका तो नहीं निभाती। इसलिए दो व्यक्तियों के बीच यौन सम्बन्धों का औचित्य विवाह में नहीं बल्कि इस बात में ही देखना चाहिए कि वे किस सीमा तक दोनों व्यक्तियों के सर्जनात्मक विकास को गति प्रदान करते हैं।

इस तरह के सम्बन्धों पर विचार करते समय कई बार सन्तान और उत्तराधिकार आदि से सम्बन्धित सवाल भी उठते हैं। आधुनिक काल में अब यौन सम्बन्धों का आवश्यक परिणाम सन्तानोत्पत्ति नहीं रहा है—बल्कि वैवाहिक यौन जीवन में भी कई लोग सन्तानोत्पत्ति को अपनी इच्छा पर नियन्त्रण रखना चाहते हैं इसलिए यह सवाल अब कोई अनिवार्य विचारणीय समस्या नहीं रह जाता। लेकिन यदि कभी सन्तान हो भी जाय तो उसकी वैधता की समस्या खड़ी नहीं होगी—यदि समाज में विवाहेतर यौन सम्बन्धों को सहज भाव से स्वीकार किया जाता हो तथा व्यवस्था व्यक्ति की आर्थिक सामाजिक सुरक्षा के अधिकार को व्यावहारिक मान्यता देती हो। वर्तमान परिस्थितियों में कई बार अपनी या बच्चों की आर्थिक सामाजिक असुरक्षा की आशंका से भी लोग न चाहते हुए भी साथ जीवन बिताने को बाध्य होते हैं अतः वे अपने विवाहेतर सम्बन्धों को गुप्त रखने पर भी मजबूर होते हैं—यद्यपि यह असम्भव है कि उनके बीच के तनावपूर्ण सम्बन्धों का बुरा असर बच्चों के विकास पर न पड़े। जीवन एक समग्र प्रक्रिया है, अतः उसमें परिवर्तन और विकास की प्रक्रिया भी खण्डित स्तर पर कामयाब नहीं हो सकती।

विवाह, विवाहेतर सम्बन्ध और नैतिकता

सामाजिक विकास की प्रक्रिया मे जिन सस्थाओ का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है उन म परिवार सवप्रमुख ह और परिवार का आधार विवाह सस्था रही है। दरअस्ल, विवाह स ही परिवार का विकास है और पारम्परिक समाजो मे परिवार को ही समाज की प्रमुख इकाई माना जाता रहा है। यही कारण है कि पारम्परिक समाजा म विवाह को दो व्यक्तियो के बीच का निजी मसला न मानकर सदव एक सामाजिक सस्था के रूप म देखा जाता रहा है और इसीलिए पहले धम और फिर राज्य द्वारा ववाहिक सम्बन्धो को लेकर समय समय पर कानून बनाय जात रहे हैं। आधुनिक राज्य भी चाहे उसका स्वरूप किसी भी प्रकार का हो, इसीलिए विवाह सस्था को अपने कानूनी क्षेत्राधिकार के अ तगत समझता है।

ऐसा लगता है कि विवाह व्यक्ति और समाज दोनो की ही आवश्यकताएँ पूरी करने वाली सस्था रहा है। इसमे कोई स देह नही रहना चाहिए कि विवाह का मूल कारण विपरीत यौन के प्रति मानसिक एव दहिक आकषण है। यौनच्छा की पूर्ति इसीलिए विवाह का मुख्य आधार है। व्यक्ति के सर्वांगीण विकास म यौन का विशेष महत्त्व है और उसके बिना किसी समग्र व्यक्तित्व की कल्पना नही की जा सकती। लेकिन पशुजीवन और मानवजीवन मे एक महत्त्वपूर्ण और बुनियादी अ तर यही है कि पशु जहा सदव आवेग द्वारा सचालित है वही मनुष्य उन आवेगा मे भी सौ दय बोध और मूल्य बोध तलाश करता है क्योकि यह सजनात्मक चेतना ही है जो उसे पशु से अलग कर मनुष्य का दर्जा दती ह। इसलिए उसकी सारी आवेगमूलक क्रियाओ म भी इस सजनात्मक चेतना का प्रतिबिम्बित होना अपेक्षित रहता है।

सजनात्मक चेतना मे उत्तरदायित्व का बोध भी सदव समाहित रहता है इसलिए आवग के स्तर पर यौन आकषण की अपरिहार्यता को स्वीकार करते हुए भी विवाह सस्था द्वारा यौन क्रिया को एक सास्कृतिक और उत्तरदायी क्रिया बनाने की चेष्टा की जाती रही है। बच्चे यौन क्रिया का सजनात्मक जविक प्रतिफलन है। इसलिए विवाह न केवल यौन आकषण एव आवश्यकता को एक स्थायी आधार और भावनात्मक प्रेरणा व सुरक्षा

लोग अक्सर इसमें वचन की कोशिश करते हैं और आधुनिक राज्य और विज्ञान भी इसके लिए प्रोत्साहन देने और आवश्यक सुविधाएँ जुटाने में रुचि लेते हैं ?

एक ऐसे व्यक्ति की सहज ही कल्पना की जा सकती है जिसका वैवाहिक जीवन किसी कारणवश यौनसुख के अलावा सभी प्रकार से सुखपूर्ण है ? यदि ऐसा व्यक्ति अपने वैवाहिक जीवन को यथावत् रखते हुए विवाहेतर यौन सम्बन्ध के माध्यम से इस आवश्यकता की पूर्ति करता है तो क्या उसे चरित्रहीन समझा जाना चाहिए ? यह द्रष्टव्य है कि वह अपने विवाहेतर सम्बन्ध को गुप्त रखने पर मजबूर है तो इसलिए कि समाज में इस तरह के आचरण को नैतिक और कानूनी स्वीकृति नहीं है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि सिर्फ यौन आकर्षण भी विवाह का एक मात्र आधार नहीं हो सकता। विवाह का अर्थ दो व्यक्तियों का निरन्तर साथ है जो तभी सम्भव है जब उनकी रुचियों, स्वभाव और जीवन शैली में कुछ बुनियादी सहमति हो। इसलिए वैवाहिक सम्बन्ध में यौन आकर्षण के अतिरिक्त अन्य बातों पर भी विचार करना आवश्यक हो जाता है। लेकिन कई बार यह भी होता है कि रुचि के साथ एवं स्वभावगत सहमति न होने के बावजूद कोई स्त्री पुरुष एक दूसरे के प्रति यौन आकर्षण महसूस करें। स्पष्ट है कि इस यौन आकर्षण का प्रतिफलन विवाहेतर यौन सम्बन्धों में ही हो सकता है क्योंकि रुचि एवं स्वभाव की सहमति न होने के कारण उनका विवाह सफल विवाह नहीं हो सकता। कुछ समय के लिए विवाह कर फिर विच्छेद कर लेने की बजाय ऐसी स्थिति में विवाहेतर यौन सम्बन्धों पर प्रतिबन्ध लगाने या उसे सामाजिक निन्दा की वजह बनाने का क्या नैतिक औचित्य हो सकता है—विशेषतया तब जबकि स्वयं विवाह भी कोई धार्मिक संस्कार नहीं रह गया है ? स्पष्ट है कि विवाहेतर यौन सम्बन्धों पर विचार करते समय भी हमें नैतिक रूढ़ियों के आधार पर नहीं बल्कि मानवीय चेतना और सृजनात्मकता की भावना के विकास का आधार बनाकर विचार करना चाहिए क्योंकि नैतिक अनैतिक की वास्तविक कसौटी भी वही है।

शिक्षा का बुनियादी प्रयोजन

शिक्षा की जितनी भी परिभाषाएँ दी जाती रही हैं उन सभी मे तत्त्वत एक बात समान है और वह यह कि उन सभी मे शिक्षा को सस्कृति के साथ जोड कर देखा गया है। शिक्षा की प्रक्रिया मूलत एक सास्कृतिक प्रक्रिया है क्योंकि उसका उद्देश्य सस्कृति का सरक्षण और उसका परिष्करण एव परिवर्द्धन है। 'एन्साईक्लोपीडिया आफ सोशल साइन्सेज' म शिक्षा की परिभाषा करत हुए उस बालक के सस्कृति मे प्रवेश की प्रक्रिया कहा गया है। इसलिए शिक्षा के के उद्देश्य और उसकी पूर्ति के लिए उचित प्रक्रिया का निर्धारण करत समय यह ध्यान रखना जरूरी होगा कि उसका अ तस्सूत्र सास्कृतिक विकास की प्रक्रिया स जुडे।

सस्कृति मानवीय चेतना और व्यवहार का गुणात्मक उत्कष ह। अलग अलग युगो या समाजो म उसकी अभिव्यक्ति के रूप और बलाघात भिन्न भिन्न हो सकते हैं लेकिन बुनियादी तौर पर वह मानवीय चेतना की सजनशीलता का गुणात्मक विकास है। इसलिए शिक्षा की वही प्रक्रिया सही और साथक मानी जा सकती है जो मानवीय सजनात्मकता के विकास मे सहायक हो। सामायत जब मानवीय सजनशीलता की बात की जाती है तो उसका तात्पय ललितकलाओ या साहित्यरचना की प्रतिभा और कभी कभी विज्ञान की आविष्कारक प्रतिभा स ही लिया जाता है। लकिन मानवीय सजनशीलता तो इससे कही अधिक व्यापक प्रवृत्ति है। कला साहित्य या विज्ञान निश्चय ही इस सृजनात्मक प्रवृत्ति की विशिष्ट अभिव्यक्ति हैं लकिन इस प्रकार की विशिष्ट अभिव्यक्ति या अभिरुचि न होन पर उस सजनशीलता का अभाव मानना एक भूल होगी।

मनुष्य यदि एक सजनशील प्राणी है—जो कि वह है—तो उसकी इस सजनशीलता की हर स्तर पर अभिव्यक्ति स्वाभाविक है। यदि कोई व्यक्ति कलाकार लेखक या वज्ञानिक आदि नही है तो भी वह सजनशील हो सकता है—न केवल यह कि उसका प्रत्येक कम सजन और प्रत्येक सामाजिक रिश्ता—प्रेम, मैत्री रक्त या भावनात्मक सम्ब ध आदि—एक सजनात्मक रिश्ता हो सकता है बल्कि अपने परिवश—प्राकृतिक एव सामाजिक दोनो—के साथ भी उसका

रिश्ता अनिवार्यत एक सृजनात्मक रिश्ता होना चाहिए। किसी भी व्यक्ति, जाति या समाज के सुसंस्कृत होने की एक प्रमुख पहचान यही है कि वह अपने सभी रिश्तो और व्यवहार म इस सृजनात्मकता का कितना उत्कर्ष करता है।

अधिकाशत शिक्षा को एक ऐसी प्रक्रिया माना गया है जिसके द्वारा व्यक्ति को परिवेश के अनुकूल होने या उस पर नियन्त्रण करने के लिए तयार किया जाता है। उसमे आशा की जाती है कि वह सामाजिक परिवेश के अनुकूल हो और प्राकृतिक परिवेश पर नियन्त्रण रख सके। समाज शिक्षा व्यवस्था से यही अपेक्षा करता है कि वह व्यक्ति को इन दोनो उद्देश्यो की पूर्ति के लिए आवश्यक योग्यता प्रदान करे। इसी प्रयोजन से शिक्षा की प्रक्रिया व्यावहारिक ज्ञान—अपनी विशिष्ट शाखाओ सहित—और मूल्यचेतना दोनो को अपने मे समोने की कोशिश करती है।

सामान्य दृष्टि से देखने पर इसम कोई आपत्ति नही दिखायी देती और इसी कारण प्रारम्भ से ही शिक्षा के दो उपर्युक्त प्रयोजन रहे हैं। प्राचीन युगो म शिक्षा को लेकर अधिक परेशानी नही थी तो इसका कारण यह था कि शिक्षा प्रक्रिया म निरन्तर परिवर्तन की आवश्यकता नही थी क्योकि सामाजिक परिवेश मे बदलाव की गति बहुत धीमी और इसलिए अधिकाशत अलक्षित रहती थी तथा प्राकृतिक परिवेश की जानकारी सीमित थी और इसलिए उस पर नियन्त्रण के उपाय और उसे अपने लिए इस्तेमाल कर सकने के तरीके भी बहुत सीमित थे। लेकिन आधुनिक समाजो मे न केवल सामाजिक परिवर्तन की गति काफी तेज और तुरत पहचान म आ सकने वाली है बल्कि प्राकृतिक परिवेश की जानकारी और उसे नियन्त्रित व इस्तेमाल कर सकने के उपायो के ज्ञान म भी निरन्तर वृद्धि हो रही है। इन सब कारणो स उत्पन्न गतिशीलता के सम्मुख हमारी शिक्षा प्रक्रिया अधिकाशत पिछड जाती है और इस कारण शिक्षा और मानवीय विकास की प्रक्रियाओ म कोई सामजस्य नही बठता दीखता।

लेकिन समस्या को इतना ही देखना अधूरा देखना है। पहले के जमाने की तुलना म ज्ञान के प्रचार प्रसार के माध्यम भी बढते जा रहे हैं और अब जीवन के लिए किसी के पास निरन्तर जाते रहना अनिवार्य नही रह गया है। प्रसार और सचार के आधुनिकतम साधनो के द्वारा किसी भी प्रकार की जानकारी और विचार ग्रहण करने की गति भी पहले की अपेक्षा अधिक बढी है और सामान्य जीवन पर इसके प्रत्यक्ष असर के कई स्पष्ट प्रमाण दिये जा सकते हैं। समय समय पर अल्पकालिक शिक्षण द्वारा भी जानकारी को निरन्तर बढाते रहा जा सकता है।

इसलिए शिक्षा की बुनियादी समस्या यह है कि वह व्यक्ति को अपने परिवेश के प्राकृतिक और सामाजिक दोनों ही रूपों के प्रति किस तरह का रिश्ता विकसित करने की प्रेरणा देती और उसके लिए आवश्यक मानसिक भूमि तैयार करती है। अनुकूलन और नियन्त्रण दोनों ही किसी न किसी स्तर पर अलोकतान्त्रिक और इसलिए उस सीमा तक मानवविरोधी प्रवृत्तियां है। किसी सीमा तक अनुकूलन या नियन्त्रण यदि आवश्यक हो—यद्यपि इसके सीमा निर्धारण का सवाल बहुत टेढा है—तो भी यह देखते रहना जरूरी होगा कि इनके पीछे कौनसी प्रवृत्ति काम कर रही है। यदि शिक्षा व्यक्ति मे एक प्रवृत्ति के रूप मे अनुकूलन और नियन्त्रण की भावना का विकास करती है तो निश्चय ही सारे आधुनिक ज्ञान विज्ञान का देने वाली होने पर भी उसे मानवीय सृजनशीलता के विकास को कुण्ठित करने वाली ही मानना होगा। यदि सामाजिक मान्यताओ और स्थापित रीतियो के प्रति व्यक्ति का अनुकूलन हर परिस्थिति मे सही ही होता तब तो मानवीय चेतना का कोई विकास सम्भव ही नही हुआ होता और किसी तरह के मौलिक अनुसन्धान की प्रेरणा समाप्त हो गयी होती। इसी प्रकार प्राकृतिक परिवेश को अपना विरोधी मानकर या उसे अपने इस्तेमाल की एक चीज समझ कर उस पर नियन्त्रण स्थापित करने की कोशिश एक प्रकार की आत्मकेन्द्रित और हिंसक प्रवृत्ति है क्योकि यह पूरे जीवन की जीवन के स्रोत की अवमानना और दमन है।

इसलिए शिक्षा प्रक्रिया का बुनियादी प्रयोजन यही हो सकता है कि वह व्यक्ति की अन्तर्निहित सृजनशीलता को अभिव्यक्त होने की प्रेरणा दे और इसके लिए आवश्यक गुणो का व्यक्ति मे मानसिक और व्यावहारिक स्तर पर विकास करे। आधुनिक समाजो की एक बडी कमजोरी यह है कि प्रत्येक क्षेत्र मे कुछ विशिष्ट सृजनशील प्रतिभाओ के बावजूद सामान्य जीवन म मे सृजनात्मक सुख का यह भाव मिटता जा रहा है। कम मजा नही, तनाव का स्रोत होता जा रहा है। समाज व्यक्ति के सृजनात्मक सन्तोष का अनिवार्य माध्यम नही एक विवशता माना जाने लगा है और प्रकृति को मनुष्य अपनी सहचरी नही दासी बनाना चाहने लगा है। शिक्षा यदि सामान्य मनुष्य की इस सृजनात्मकता की भावना को नही बचाती है तो वह मनुष्य को भी नही बचा पायेगी।

शिक्षा की सार्थकता

सभी आधुनिक समाजो म इस बात पर जोर दिया जाता है कि शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो व्यक्ति को किसी न किसी रोजगार के लिए तयार कर सके। इसीलिए शिक्षा की योजना या पाठयक्रम बनाते समय उसे रोजगारपरक बनाना आवश्यक समझा जाने लगा है। यह धारणा बढती जा रही है कि जिस शिक्षा के आधार पर कोई निश्चित व्यवसाय प्राप्त न किया जा सके वह व्यथ है। इसीलिए शिक्षा के क्षेत्र म मानविकी से सम्बधित विषयो को अधिकाशत बेकार समझा जाता है क्योकि अधिकाशत भविष्य के व्यावसायिक जीवन म उनकी विशेष उपयोगिता प्रमाणित नही होती। शिक्षार्थियो मे बहुत कम लोग ऐसे होते है जिनका व्यवसाय मानविकी के क्षेत्र के विषयो से सम्बधित हो। इसलिए कुछ शिक्षाशास्त्री यह आवश्यक मानने लगे है कि प्रारम्भिक और माध्यमिक स्तर की शिक्षा योजना म ही कुछ व्यवसायो का व्यावहारिक प्रशिक्षण शामिल कर लिया जाना चाहिए। वतमान शिक्षा प्रणाली मे इसलिए विशेष प्रकार की व्यावसायिक और तकनीकी दक्षता विकसित करने वाली शिक्षा का विशेष महत्त्व स्वीकार किया जाता है। विज्ञान, तकनीकी, अभियान्त्रिकी और चिकित्सा आदि की शिक्षा समाज मे विशेष महत्त्व प्राप्त करती जा रही है।

इसम कोई सन्देह नही कि उपर्युक्त सारी शिक्षा का सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि स भी अपना महत्त्व है और शिक्षार्थी के भावी आर्थिक जीवन की सुरक्षा भी इसम है। लेकिन साथ ही यह सवाल भी उठ खडा होता है कि क्या वास्तविक और व्यापक अर्थो म इसे शिक्षा कहा जा सकता है? क्या शिक्षा का प्रयोजन किसी विषय की जानकारी दे देना या किसी तकनीकी अथवा व्यवसाय म दक्षता पदा करने तक ही सीमित है? शिक्षा यदि संस्कृति म प्रवेश की—व्यक्ति के संस्कृतिकरण की—प्रक्रिया है तो उसका क्षेत्र सिफ उपयोगी जानकारी देने तक ही सीमित नहीं समझा जा सकता। संस्कृति ज्ञान के स्तर पर मूल्यबोध और आचरण के स्तर पर मूल्यनिष्ठा की सहज प्रक्रिया है। जीवन मे मूल्यबोध और मूल्यनिष्ठा की यह सहजता विकसित करना ही शिक्षा का प्राथमिक प्रयोजन होना चाहिए। जीवन को जी सकने

के लिए आवश्यक साधन जुटाने की क्षमता के साथ साथ यह भी आवश्यक है कि वह जीवन जीने के योग्य भी हो। मूल्यबोध से रहित जीवन पशुस्तर का जीवन है अतः शिक्षा—जो एक मानवीय प्रक्रिया है—अपना वास्तविक उद्देश्य तभी पूरा कर सकती है जब वह शिक्षार्थी को मानवीय मूल्यों और संवेदना से अनुप्राणित कर सके।

स्पष्ट है कि केवल जानकारी या तकनीकी अथवा व्यावसायिक दक्षता इस प्रयोजन की सिद्धि नहीं कर सकती। जानकारी और दक्षता भी जीवन के लिए उपयोगी चीजें हैं लेकिन उनका उपयोग समाज के हित में किया जाता है अथवा उसके अहित में, यह भी उपयोग करने वाले व्यक्ति या संस्था की मूल्यदृष्टि पर निर्भर करता है। जानकारी या दक्षता संस्कृति का सृजन नहीं करती यद्यपि उसके विकास में वे सहायक उपकरण जरूर हो सकती हैं। इसका सीधा तात्पर्य यही है कि केवल जानकारी या दक्षता देना शिक्षा के वास्तविक प्रयोजन की अवहेलना करना है।

लेकिन मूल्यबोध या मूल्यदृष्टि का सवाल बहुत उलझा हुआ सवाल है। वास्तविक मानवमूल्य क्या है? उनकी सही अभिव्यक्ति किस प्रकार सम्भव है? ये तथा इनसे जुड़े सभी सवाल बड़े पेचीदा सवाल हैं। यह सर्वमान्य है कि शिक्षा की प्रक्रिया और उसके माध्यम से सम्प्रेषित होने वाले मूल्यों का निर्धारण सम्बन्धित जाति, वर्ग, समाज या राष्ट्र के अपने हितों या प्रवृत्तियों के अनुकूल होता है। इसलिए इस बात का बहुत खतरा रहता है कि मूल्यबोध के नाम पर शिक्षा के माध्यम से कोई व्यक्ति, संस्था, वर्ग या राष्ट्र शिक्षार्थी का अनुकूलन करने लगे। इसलिए शिक्षा की सही प्रक्रिया वही हो सकती है जो शिक्षार्थी को किन्हीं मूल्यों को सम्प्रेषित करने की बजाय उसे इस योग्य बना दे कि वह मूल्यों की परख और तदनुकूल उनका अपने लिए वरण कर सके।

अधिकांश शिक्षाशास्त्रियों द्वारा अनुशासन को शिक्षा का एक प्रमुख लक्ष्य माना गया है। अनुशासन का वास्तविक अर्थ तो व्यक्ति के विवेक और मूल्यों का अनुशासन ही है लेकिन सामान्य व्यावहारिक जीवन में इसका तात्पर्य किसी न किसी सत्ता और उसके द्वारा निर्धारित मर्यादा का अनुशासन होकर रह जाता है। यह देखा गया है कि सत्ता और व्यवस्था का प्रत्येक रूप किसी न किसी स्तर पर उन्हीं मूल्यों की अवहेलना करता है जिन की पुष्टि ही उसके अस्तित्व की घोषित सार्थकता होती है और इस गुप्त उद्देश्य की पूर्ति में शिक्षा की प्रक्रिया को सदैव अपने अनुकूल बनाने की कोशिश की जाती है। इसलिए शिक्षा व्यवस्था में शिक्षार्थी की स्वतन्त्रता तो बहुत दूर

की बात है, शिक्षक की स्वतन्त्रता को भी अधिकाधिक सीमित करने के कई प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष उपाय किये जाते हैं। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में इसीलिए शिक्षार्थी सीखने के लिए स्वतन्त्र नहीं होता। वह सीखने के लिए मजबूर होता है—वह सब कुछ सीखने के लिए जो उस सम्बन्धित व्यवस्था सिखाना चाहती है। इसीलिए, मेरी राय में, शिक्षा की सार्थकता की एक कसौटी यह भी होनी चाहिए—खास तौर पर आधुनिक समाजों में—कि वह किस हद तक शिक्षार्थी को अनुशासित होने के साथ-साथ विद्रोही भी बनाती है। यदि कोई वैज्ञानिक अपने ज्ञान का उपयोग ज्ञान के अपने विकास और पूरी मानवता के कल्याण के लिए करने की बजाय किसी एक वर्ग, राष्ट्र या व्यवस्था के लिए दूसरों को नष्ट करने या उन्हें आघात पहुँचाने के उद्देश्य से करता है अथवा अपने ज्ञान को गुप्त रखता है और ज्ञान के विकास में सरकारी आदेश के कारण असहयोग करता है तो यही मानना होगा कि विज्ञान की शिक्षा में कहीं न कहीं कोई कमी है। अन्य विषयों या क्षेत्रों की शिक्षण प्रक्रिया के बारे में भी यही कहा जा सकता है। इसलिए शिक्षा की वास्तविक सार्थकता इसमें है कि वह न केवल शिक्षार्थी के मूल्यबोध और उसके अनुकूल आचरण करने की प्रवृत्ति को पुष्ट करे बल्कि अन्याय और असत्य के विरुद्ध असहयोग और संघर्ष की प्रवृत्ति का विकास भी करे। अन्याय और उसके विरुद्ध संघर्ष ही व्यक्ति के मूल्यगत आचरण की वास्तविक कसौटी है अतः यदि शिक्षाप्रक्रिया इस आचरण को पुष्ट नहीं करती है तो वह अपने वास्तविक उद्देश्य में असफल ही कही जायेगी।

लेकिन इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए शिक्षा प्रक्रिया का ही नहीं शिक्षा व्यवस्था का भी स्वायत्त होना आवश्यक है। जहाँ यह आवश्यक है कि शिक्षार्थी की सीखने की स्वतन्त्रता का सम्मान किया जाय वहीं यह भी उतना ही आवश्यक है कि इस प्रक्रिया और इसकी प्रबन्धक व्यवस्था को राज्य, पूंजी सम्प्रदाय आदि सत्ता के विभिन्न प्रकारों से भी अलग रखा जाय। निश्चय ही वर्तमान परिस्थितियों में यह एक मुश्किल बल्कि कुछ लोगों की राय में तो असम्भव कार्य है लेकिन जिस सीमा तक हम शिक्षा प्रक्रिया को शिक्षार्थी केन्द्रित और शिक्षा व्यवस्था को सत्ता से स्वतन्त्र रख पायेंगे उसी हद तक शिक्षा भी अपने वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति की ओर अग्रसर हो सकेगी।

सामाजिक आचरण और शिक्षा

शिक्षा के प्रयोजन और प्रक्रिया को लेकर विद्वानों में निरंतर विवाद होता रहा है और अन्य मामलों की तरह यहाँ भी किसी सर्वमान्य निष्कर्ष तक पहुँचना सम्भव नहीं हो सका है। लेकिन यह विवाद मूलतः शिक्षा के प्रयोजन के नाम पर जीवन के प्रयोजन के बारे में होता रहा है और इसी कारण शिक्षा की प्रक्रिया को लेकर भी कोई निश्चित पद्धति विकसित नहीं की जा सकी है। शिक्षा के माध्यम से हम अनिवार्यतः अपने पूर्वाग्रहों और मान्यताओं को नयी पीढ़ी तक सम्प्रेषित करना चाहते रहे हैं और यही आग्रह शिक्षा के प्रयोजन के प्रश्न पर मतैक्य नहीं होने देते, क्योंकि कई मामलों में हमारी मान्यताएँ एक दूसरे से मेल नहीं खातीं और कई दफा तो वे बिल्कुल विपरीत ध्रुवों पर स्थित होती हैं। आध्यात्मिक या आदर्शवादी और भौतिकवादी दृष्टिकोण तो परस्पर विरोधी ध्रुव हैं इसलिए इनसे प्रेरित शिक्षा की अवधारणा, प्रयोजन और प्रक्रिया का भी एक दूसरे से उतना ही भिन्न होना स्वाभाविक है।

दिक्कत यह होती है कि शिक्षा पर विचार करते समय दोनों ही दृष्टियों के समर्थक जीवन की समग्रता पर विचार करने की बजाय अपनी अपनी दृष्टि के औचित्य को सिद्ध करने पर अधिक बल देते हैं और शिक्षा को जीवन के समग्र विकास के उपकरण की तरह ग्रहण करने की बजाय अपनी दृष्टि को समाज पर आरोपित करने का उपकरण बनाना चाहने लगते हैं। दूसरों पर अपने आग्रहों को आरोपित करने की प्रवृत्ति—चाहे उसके लिए बल का प्रयोग किया जाए या बारीक मनोवैज्ञानिक पद्धतियों का—सूक्ष्म स्तर पर एक अधिनायकवादी प्रवृत्ति है। अतः यह अलोकतान्त्रिक ही नहीं अवैज्ञानिक भी है क्योंकि यह मानवीय चेतना के विकास की दिशा और विस्तार को अपने अधूरे ज्ञान की सीमाओं में बद्ध कर देना चाहती है। ज्ञान का कोई भी स्तर चेतना के समग्र और सम्पूर्ण विकास की सम्भावनाओं के सम्मुख अधूरा और ओछा ही माना जाना चाहिए। इसीलिए यदि ज्ञान की दिशा सही है तो वह विनय की प्रवृत्ति का विकास करती है। विनय मूलतः एक वैज्ञानिक और लोकतान्त्रिक प्रवृत्ति है क्योंकि यह अन्य पर अपनी धारणाओं को आरोपित करने से बचती है और उसमें अपनी ही मान्यताओं के प्रति अन्ध आग्रह और दूसरों की धारणाओं के

प्रति अपेक्षा या अवमानना की भावना नहीं होती—बल्कि सदा दूसरे की राय के सम्मान की प्रवृत्ति होती है। इसलिए शिक्षा को लेकर किसी भी तरह का दुराग्रह अंततः एक अलोकतांत्रिक और इसलिए मानवविरोधी दृष्टिकोण स्थापित करने का ही प्रयत्न सिद्ध होता है। बहुत से शिक्षाशास्त्री और सांस्कृतिक विचारक यदि शिक्षा और संस्कृति का किसी एक ही संस्था पर—चाहे वह राज्य हो या धर्म या बाजार—निर्भर कर देने को अनुचित मानते हैं तो इसका एक प्रमुख कारण यही होता है कि वे इनको किसी एक दृष्टिकोण या वर्ग के आग्रहों का माध्यम नहीं बनने देना चाहते क्योंकि वे मानवीय चेतना के विकास की सम्भावनाओं के रूपायन पर किसी तरह का एकांगी दबाव डालकर उसे विकृत नहीं करना चाहते।

शिक्षा के महत्त्व को रेखांकित करते हुए अक्सर यह कहा जाता है कि शिक्षा समाज का निर्माण करती है, शिक्षक राष्ट्र निर्माता होता है और शिक्षा पद्धति में परिवर्तन के द्वारा ही समाज में परिवर्तन लाया जा सकता है। ये सभी बातें गलत नहीं हैं, लेकिन पूर्ण सत्य नहीं हैं—बल्कि आंशिक सत्य के रूप में भी ये प्रभावहीन हैं। जिस शिक्षा से हम समाज के पुनर्निर्माण की कामना करते हैं और वैसा न कर सकने पर उसे दोषी ठहराते हैं, उसके प्रयोजन और प्रक्रिया का निर्धारण स्वयं समाज या उसकी किसी प्रतिनिधि संस्था द्वारा किया जाता है। अतः यह कहना ज्यादा सही होगा कि शिक्षा समाज का वैसा ही निर्माण करती है जैसा समाज शिक्षा का निर्माण करता है। दूसरे शब्दों में, समाज जैसा बीज बोता है वैसा ही फल उसे प्राप्त होता है।

यह भी गौर करने की बात है कि शिक्षा की चर्चा करते समय हमारे मन में अधिकांशतः स्कूली या विश्वविद्यालयी शिक्षा अर्थात् शिक्षा का एक औपचारिक स्वरूप ही रहता है। साथ ही शिक्षा की परिधि को भी हम बालक या विश्वविद्यालयी नवयुवक तक ही सीमित रखते हैं। कुछ शिक्षाशास्त्री थोड़ा आगे बढ़कर परिवार को भी शिक्षा संस्था का एक प्रकार मान लेते हैं। यह सही है, लेकिन यह भी उतना ही सही है कि शिक्षाप्रक्रिया में अब इन स्कूल या परिवार जैसी संस्थाओं का केन्द्रीय महत्त्व नहीं रह गया है और वे जिस सीमा तक समाज को प्रभावित करती हैं उससे कहीं अधिक स्वयं राजनीतिक सामाजिक वातावरण से प्रभावित हो रही होती हैं। मुद्रण एवं प्रसार माध्यमों के विस्तार और प्रभाव ने परिवार या स्कूल को शिक्षा के क्षेत्र में वास्तविक अर्थों में निर्णायक इकाई नहीं रहने दिया है। स्कूल अधिक से अधिक कुछ मामलों में कुछ बुनियादी सूचनाएँ देने का माध्यम होते जा रहे हैं और परिवार भी धीरे धीरे भावनात्मक और सांस्कृतिक

आवश्यकता की सस्था न रहकर वही तक अपने अस्तित्व का बचा पान म सफल हो रहे है जहा तक वे एक आर्थिक आवश्यकता बन रह पाते हैं। पत्र पत्रिकाओ, पुस्तका, रेडियो, दूरदशन और फिल्मा के माध्यम से सभी प्रकार की प्रवृत्तिया बिना किसी वरण प्रक्रिया के परिवार या स्कूल मे भी सीधे प्रवेश करती और पारिवारिक प्रवृत्तिया या स्कूल के वातावरण पर अधिक प्रभावी होती हैं। दूसरे शब्दा मे आधुनिक समाजा म शिक्षा शिक्षक या सरक्षक से कही अधिक उन अमूत शक्तियो पर निभर करती है जिनकी प्रक्रिया किन्ही मानवीय भावनाआ म अनुप्रेरित होन की बजाय पूणतया यान्त्रिक हैं। मुद्रण और प्रसार माध्यम अधिक व्ययसाध्य होने के कारण व्यावसायिक दृष्टिकोण से निर्देशित एव नियन्त्रित होत है। उनका उद्देश्य शिक्षापरक नही होता, इसलिए उनमे मानवीय उत्तरदायित्व की भावना का अभाव होता है—यद्यपि ये माध्यम अन्य किसी भी माध्यम की अपेक्षा शक्षिक दृष्टि से भी पूरे समाज का सर्वाधिक प्रभावित करत हैं।

यह भी गौरतलब है कि इन माध्यमो म प्रत्यक्ष मानवीय सम्पक का अभाव रहता है क्योकि इनका सम्प्रेषण मूलत यान्त्रिक सम्प्रेषण है। अत इनस प्रभावित हो रहे व्यक्ति की चिन्ता प्रणाली पर भी इस यान्त्रिकता का मनोवैज्ञानिक प्रभाव पडना स्वाभाविक हैं। बडी से बडी भयकर दुघटनाओ की खबर को नाश्ते की मेज पर हँसी मजाक के बीच जिस तरह सुना या पढा जाता है वह सवदन प्रक्रिया पर इस यान्त्रिकता के प्रभाव का स्पष्ट प्रमाण है। दूसरी ओर, बिना किसी प्रत्यक्ष खतरे के प्रसार माध्यमो द्वारा प्रचारित खबरो से निर्मित एक आतक साम्प्रदायिकता या बढत हुए अपराधो का वातावरण किसी भी व्यक्ति को एक निरन्तर तनाव म जीन के लिए बाध्य कर देता है। परिवार या स्कूल का सुरक्षित समझा जान वाला वातावरण इन प्रवृत्तिया स सुरक्षित नही रह सकता। इस प्रकार सामाजिक वातावरण ही अध्यापक और सरक्षक या स्कूल और परिवार की तुलना म शिक्षा का कही अधिक वास्तविक माध्यम हो जाता है। बर्टेण्ड रसल न कही कहा है कि अधिकाश बच्चे अनजाने ही अपन माता पिता और अध्यापको के असली विचारो को ग्रहण कर लेत है लेकिन आम तौर पर वे उनकी उन धारणाओ का ग्रहण नही करत जिनका वे प्रचार तो करते है पर वास्तव म जो उनकी सच्ची धारणाएँ नही होती। माता पिता और अध्यापक का स्थान सामाजिक वातावरण लेता जा रहा है। अत यह स्पष्ट है कि समाज द्वारा औपचारिक रूप स घोषित विचारो की बजाय समाज का वास्तविक आचरण शिक्षा की प्रक्रिया म केन्द्रीय महत्त्व प्राप्त कर लेता है।

संस्कृति का केन्द्रीकरण क्यों ?

आधुनिक प्रौद्योगिकी अनिवार्यतः केन्द्रीकरण और एकाधिकारवादी प्रवृत्तियों को जन्म देती और उन्हें पुष्ट करती है—और स्वाभाविक है कि ये प्रवृत्तियाँ आर्थिक या राजनैतिक जीवन को ही अपनी गिरफ्त में लेती हों हैं, साथ ही जीवन का वह हर पक्ष इनसे ग्रसित हो जाता है जिसका परिचालन भी सम्यक् रूप प्रौद्योगिकी से होता है। दूसरे शब्दों में इसके प्रभाव सभी सामाजिक शिक्षा और सांस्कृतिक प्रक्रिया अर्थात् मानवीय चेतना के विकास पर भी स्पष्ट पड़ने लगते हैं और, जैसा कि जाहिर है, ये प्रभाव हमेशा वांछनीय या काम्य ही नहीं होते।

जीवन के अन्य पक्षों की तरह सामाजिक सम्प्रेषण के माध्यमों और संचार प्रसार साधनों तथा प्रक्रिया पर भी इस वर्धित आधुनिक प्रौद्योगिकी ने गहरा असर डाला है। इन साधनों का एक बड़ा असर तो बिल्कुल साफ ही है कि सम्प्रेषण एक जीवन्त मानवीय प्रक्रिया की बजाय यान्त्रिक प्रक्रिया का रूप लेता जा रहा है। सम्प्रेषण प्रक्रिया में निहित आत्मीयता का स्थान एक ठण्डी तटस्थता लेती जा रही है जिसका असर मानवीय चेतना के संवेदन पक्ष पर भी देखा जा सकता है। जटिल प्रौद्योगिकी वाली उपभोक्ता संस्कृति में बड़ी मानवीय त्रासदी आधुनिक प्रसार साधनों के लिए एक कच्चे माल की तरह हो जाती है जिसे अधिक से अधिक रोचक तरीके से अपने ग्राहकों के सम्मुख प्रस्तुत करना संचार प्रसार उद्योग की एक अनिवार्यता हो जाती है और पाठक भी किसी करुणा या लगाव की भावना से कम और घटना क्रम में एक प्रकार की कथा रुचि या अधिक से अधिक अपने को तथ्यों के बारे में 'अपटू-डेट' बनाये रखने की इच्छा से इस प्रकार की प्रस्तुतियों में अधिक रुचि लेते हैं। हजारों लोगों के मरने या मार डाले जाने और उन्हें असह्य यन्त्रणाएँ दिये जाने की खबरों पर बिना किसी आन्तरिक पीड़ा के चर्चा किये जाना एक आम प्रवृत्ति होती जा रही है। यदि कभी कोई पीड़ा उभरती भी है तो साथ ही एक असहायता का भाव भी घेर लेता है, क्योंकि घटनाओं की दूरी और व्यापकता के कारण यह पीड़ा किसी तरह का सक्रिय रूप ग्रहण नहीं कर सकती।

इस प्रकार बडी घटनाओं के प्रति जहाँ एक किस्म की उदासीनता और कभी कभी असहायता का भाव व्यक्ति के स्वाभाविक विकास को कुण्ठित करता है, वहीं प्रसार माध्यमों की केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति उसे अपने तात्कालिक और स्थानीय परिवेश से भी काट देती है। ये प्रसार माध्यम अपनी सीमाओं और विवशताओं के कारण स्थानीय परिवेश और समस्याओं की कोई जानकारी अपने श्रोता पाठक को नहीं दे सकते। पाठक या श्रोता के मानसिक जगत को भी बडी समस्याएँ घेरे ही रहती हैं और आर्थिक राजनैतिक जीवन के केन्द्रीकरण की वजह से वह यही मानकर चलता है कि स्थानीय समस्याओं का समाधान भी केवल केन्द्रीय स्तर पर ही हो सकता है। यही कारण है कि सामाजिक अन्याय आर्थिक शोषण और राजनैतिक प्रशासनिक दमन उत्पीडन के निराकरण के लिए वैयक्तिक या स्थानीय पहल करने की बजाय केन्द्रीय स्तर के संगठनों और नेताओं की ओर देखा जाता है। तय है कि यह प्रवृत्ति वैयक्तिक असहायता के भाव को और तीखा करती है। यह बडी आसानी से देखा जा सकता है कि जो व्यक्ति या समाज जितने बडे प्रसार साधन का उपभोक्ता होता है वह स्थानीय परिवेश और समस्याओं के साथ उतना ही कम जीवन्त रिश्ता रख पाता है। साथ ही यह भी सही है कि जो व्यक्ति या संगठन प्रसार साधनों पर जितना कम प्रभाव रखता है, वह अपने को उतना ही असहाय और विफल अनुभव करता है। सत्ता के सभी प्रकारों पर किसी न किसी प्रकार का लोक नियन्त्रण आज की महती आवश्यकता है, लेकिन यदि निजी स्तर पर व्यक्ति और सामूहिक स्तर पर स्थानीय संगठन और समाज असमर्थता का अहसास करने लगे तो निश्चय ही इसे मानवीय विकास यात्रा का एक विकार ही मानना होगा।

इस प्रौद्योगिकी आश्रित प्रसार व्यवस्था और सम्प्रेषण प्रक्रिया का एक और गहरा असर पडता है जो किसी भी तरह कम चिन्ताजनक नहीं है। सांस्कृतिक विकास का सर्जनात्मक पक्ष भी इस प्रौद्योगिकी के दूषित प्रभावों या विकारों से मुक्त नहीं है। कोई भी समाज सही मानों में सांस्कृतिक तभी होता है जब वह अपने सामान्य दिन दिन जीवन में भी अपने संस्कृति से रचनात्मक स्तर पर जुडता है—उसके बिना सांस्कृतिक आदर्शों की सैद्धान्तिक मान्यता या सम्मान उस समाज की आकांक्षाओं का तो परिचय देते हैं लेकिन उन आकांक्षाओं और वास्तविक जीवन की दूरी या भेद अनिवार्यत एक सांस्कृतिक द्विभाजन को जन्म देता है। कला और साहित्य सांस्कृतिक चेतना का रचनात्मक अनुभूति पक्ष है। लेकिन यह पक्ष पूर्णरूपेण सार्थक और विकसित तभी माना जा सकता है जब यह रचनात्मक अनुभूति कुछ व्यक्तियों या विशेषज्ञों तक सीमित न रहकर समग्र समाज में हर स्तर पर व्याप जाय। प्रसार साधनों की प्रौद्योगिकीआश्रित और केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति ने इन

सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के साथ हमारा रिश्ता रचनात्मक नहीं रहने दिया है। कलाएँ और साहित्य धीरे धीरे विशेषज्ञों की सम्पत्ति बनते जा रहे हैं। सामान्य स्तर पर उनके साथ समाज का रिश्ता उपभोक्ता का अधिक होता जा रहा है और रचनात्मक कम। इन क्षेत्रों के समय व्यक्तियों और विशेषज्ञों की उपलब्धियों तक इन प्रसार-साधनों के जरिए हर व्यक्ति की पहुँच हो सकती है जो शुभ है। लेकिन इसका एक उपप्रभाव यह भी हुआ है कि हम न केवल स्थानीय प्रतिभाओं की अवहेलना करने लगे हैं, बल्कि निजी स्तर पर इस प्रकार की सृजनात्मक अनुभूति के मार्ग भी हमारे लिए रुद्ध होने लगे हैं। प्रसार-साधनों के माध्यम से बड़ी उपलब्धियों का हम पर छाया हुआ सांस्कृतिक आतंक इसका कारण है। कला और साहित्य सदैव विशेषीकृत ही नहीं होते क्योंकि वे बुनियादी तौर कोई पेशा नहीं है। इन क्षेत्रों की बड़ी उपलब्धियाँ किसी समाज की सांस्कृतिक चेतना के विकास की सम्भावनाओं को उजागर करती हैं लेकिन ये सम्भावनाएँ पूरे समाज की चेतना तभी बनती है जब इनके साथ समाज का रचनात्मक रिश्ता हो, उपभोक्ता का नहीं। दस बीस अच्छे वैज्ञानिक पैदा करने से या आधुनिक उपकरणों के प्रयोग से ही कोई समाज वैज्ञानिक प्रवृत्ति का समाज नहीं कहला सकता। इसके लिए पूरे समाज के आचरण में अंधविश्वासों का निराकरण और विवेकमूलक चिंतन पद्धति का प्रतिबिम्बित होना आवश्यक है। वैज्ञानिकता के साथ किसी समाज का यही रचनात्मक रिश्ता हो सकता है। इसी प्रकार दस-बीस बड़े कलाकारों या साहित्यकारों की उपस्थिति या इनकी रचनाओं का व्यापक स्तर पर उपलब्ध होना ही किसी समाज को एक सांस्कृतिक समाज नहीं प्रमाणित करता। इसके लिए आवश्यक है कि समाज में हर स्तर पर कला और साहित्य के प्रति एक रचनात्मक सक्रिय लगाव विकसित हो। मैं सिर्फ सक्रिय लगाव की माँग कर रहा हूँ दक्षता या विशेषज्ञता की नहीं। अभी तो हालत यह है कि हम न केवल स्वयं गुनगुनाने, नाचने या टूटे फूटे छन्द रचने और उन्हें अपने निजी परिवेश में सम्प्रेषित करने में सकोच अनुभव करते हैं, बल्कि विभिन्न कलात्मक प्रस्तुतियों के बारे में भी अपनी पसन्द और अपने निर्णय की बजाय प्रसार साधनों की राय पर निर्भर करते हैं। यह केन्द्रीकरण, यह विशेषज्ञता संस्कृति को भी एक उपभोग की वस्तु बनाती है उसे हमारी दैनंदिन रचनात्मक अनुभूति नहीं रहने देती और कोई भी समाज इसके बिना निश्चित ही बड़ी उपलब्धियों के माध्यम से उजागर हो रही सांस्कृतिक सम्भावनाओं को आत्मसात् नहीं कर सकता। इसके लिए स्थानीय परिवेश से जुड़ाव के साथ-साथ सम्प्रेषण तथा प्रसार की सरल तकनीक और विकेन्द्रीकृत व्यवस्था ही कारगर उपाय है।

सस्कृति के अन्तर्विरोध   भारतीय सन्दर्भ

सस्कृति की भिन्न भिन्न परिभाषाएँ और व्याख्याएँ की जाती रही हैं और इस बात को लेकर भी काफी विवाद होता रहा है कि उस की प्रक्रिया का निर्धारण किस प्रकार होता है। लेकिन इस सारे विचार विमर्श मे एक बात सामान्य तौर पर उभर कर आती रही है कि उसका सम्बन्ध मूलत मनुष्य की चेतना के सस्कार स है और सास्कृतिक विकास का तात्पर्य मानवीय चेतना का विकास हो है। सस्कृति का इतिहास से जोडकर इसीलिए देखा जाता रहा है कि उस का अध्ययन मनुष्य की चेतना के आज तक के विकास का अध्ययन है और उसी मे से उसके भविष्यत् विकास की सम्भावनाएँ उजागर होती है। लेकिन यह अध्ययन भी तभी सागोपाग माना जा सकता है जब हमे उस लक्ष्य या मजिल का भी ज्ञान हो जिस ओर यह विकास यात्रा उन्मुख है क्योकि यात्रा की मूल प्रेरणा के आधार पर ही यात्रा की प्रक्रिया भी तय होती है। इसका तात्पय यही हुआ कि किसी भी सस्कृति की प्रकृति और स्वरूप का निर्धारण वे आदर्श या मूल्य करते है जिनकी सिद्धि म ही कोई समाज अपनी साथकता स्वीकार करता है। सस्कृति को इसलिए मूल्य दृष्टि कहा जाता है क्योकि उन चरम मूल्यो के अजन की प्रक्रिया ही सांस्कृतिक प्रक्रिया है।

शायद इसी कारण बहुत से विचारक सस्कृति का दायरा मूल्यो के धारणात्मक स्तर तक ही सीमित रखत हैं और उनक अजन की सामाजिक व्यक्तिगत प्रक्रिया तथा सामान्य उपयोगिता की अन्य बातो को उसस अलग कर दते है। इस तरह की उपयोगिता के क्षेत्र को वे सभ्यता के दायरे मे रखत हैं और इस प्रकार सस्कृति और सभ्यता के बीच एक विभाजक रेखा खीच दत हैं। ऐसी स्थिति म सस्कृति सिफ मानसिक वस्तु रह जाती है और अन्य सारा भौतिक सामाजिक जीवन सभ्यता के क्षेत्र के अन्तगत समझ लिया जाता है। यह विभाजन विश्लेषण की सुविधा के लिए तो एक हद तक उपयोगी हो सकता है लेकिन इसका आत्यतिक और प्रक्रियागत महत्व नही है। इस विभाजन को आत्यतिक मान लेने के भ्रम की वजह से ही इतिहासकार सस्कृति का अध्ययन करत हुए अपने को धम दशन, कला और साहित्य तक ही सीमित

रखते हैं और अन्य सारे जीवन को उसके क्षेत्र से बाहर मान लेते है। इस प्रकार संस्कृति का क्षेत्र सिर्फ मानसिक व्यापार तक ही सीमित रह जाता है और उस का यथार्थ जीवन से कोई रिश्ता नही स्थापित होता। विचार और आचार मे एक दुर्निवार असंगति विकसित हो जाती है।

इस भ्रामक दृष्टि का ही यह परिणाम हुआ है कि दुनिया के आततायी, साम्राज्यवादी और शोषक समाज भी अपने को सुसंस्कृत और सभ्य मानते रहे है। हम केवल अपने को इसलिए सभ्य और संस्कृत नही कह सकते कि हमने मनुष्य के दमन और उसके संहार के कुछ ऐसे सूक्ष्म उपाय विकसित कर लिये हैं जो आदिम या जंगली समाज के पास नही थे। लेकिन ऐसे समाजों का अपने को सुसंस्कृत मानना भी कोई सचेत ढोंग तो नही कहा जा सकता क्योंकि उनकी दृष्टि ही भ्रामक रही है—अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि इस भ्रामक दृष्टि से मिलने वाले तात्कालिक भौतिक लाभों ने भ्रम को पहचानने की प्रेरणा नही विकसित होने दी। इसी कारण जब कोई साम्राज्यवादी या सामाजिक अन्याय से ग्रस्त समाज साहित्य और कला का अपने यहां विकास होते देखता है और उसके लिए आवश्यक भौतिक सुविधाएँ भी जुटाने मे रुचि लेता है तो अपने को सुसंस्कृत मानने मे उसे कोई अनौचित्य नही दीखता। यन्त्र कौशल तथा अन्य उपयोगितापरक ज्ञान और व्यवस्था के विकास की वजह से सभ्य तो वह होता ही है। ऐसे समाजों को यह अन्तर्विरोध समझ मे नही आता—यदि आता भी है तो एक उपेक्षित अल्पसंख्या को ही—कि शोषण, दमन, विस्तारवादी या एकाधिकारवादी प्रवृत्ति और युद्धों के द्वारा उन्होने उन बुनियादी मानव मूल्यों और आदर्शों को ही आहत किया है जो उनकी संस्कृति की मूल निर्धारक प्रेरणाएँ हैं और इसलिए ज्ञान विज्ञान और कला साहित्य के सारे विकास और आर्थिक सम्पन्नता के बावजूद उनका आचरण वास्तविक अर्थों मे सांस्कृतिक आचरण नही है, कि जिसे वे संस्कृति या सभ्यता मानकर अपनी उपलब्धियों पर गर्व कर रहे हैं वह कोई जीवित प्रेरणा नही बल्कि कृत्रिम सजावट भर रह गयी है। वे नही समझ पाते कि संस्कृति जीवन्त आचरण है, ड्राइंगरूम, पुस्तकालय या अजायबघरों की सजावट नही कि उनकी मानवीय चेतना के सर्जनात्मक विकास की यात्रा पाशविक भटकावों की शिकार हो रही है।

अत संस्कृति के बारे मे किसी भी विचार विमर्श के पूर्व यह समझ लेना जरूरी है कि संस्कृति केवल मूल्य दृष्टि ही नही मूल्यनिष्ठा भी है। यह केवल विचार नही, विश्वास और आचरण भी है। चेतना के विकास का अर्थ विचार का ही नही, अनुभूति का विकास भी है। मनुष्य एक अनुभवशील प्राणी है अत

जब तक उसके विचार, उसके जीवन मूल्य उसका दैनंदिन अनुभव नहीं बन जाते तब तक संस्कृति की प्रक्रिया अधूरी रह जाती और इसलिए अन्तर्विरोध पूर्ण भी हो जाती है। इसलिए संस्कृति व्यवहारतः सभ्यता का बल्कि पूरे जीवन का ही अपने दायरे में ले लेती है। यदि जीवन किन्हीं मूल्यों की ओर उन्मुख और उनसे अनुप्राणित है तो उसके हर पक्ष में उन्हीं मूल्यों की अनुप्रेरणा प्रतिबिम्बित होनी चाहिए। संस्कृति सम्पूर्ण जीवन के गुणात्मक उत्कर्ष की प्रक्रिया है। किसी भी जाति की मूल्य दृष्टि, उसकी आस्थाएँ और विश्वास उसकी प्रक्रिया और स्वरूप का निर्धारण करते हैं। इन आस्थाओं और विश्वासों का एक परम या साध्य रूप होता है और दूसरा सापेक्ष और साधनात्मक रूप। आवश्यक यह है कि इन दोनों रूपों में आन्तरिक और जहाँ तक सम्भव हो बाह्य संगति भी हो और साध्य रूप साधनात्मक रूप में भी बराबर प्रतिबिम्बित होता रहे। इसलिए मैं संस्कृति और सभ्यता में प्रक्रियागत या आत्यन्तिक भेद नहीं करता बल्कि स्वयं को उन विचारकों से सहमत पाता हूँ जो सभ्यता को संस्कृति का साधनात्मक रूप मानते हैं। हमारी सामाजिक व्यवस्था और आचरण यदि उन चरम मूल्यों और विश्वासों को प्रतिबिम्बित नहीं करते जो हमारी संस्कृति की केन्द्रीय प्रेरणा हैं तो यही मानना होगा कि संस्कृति एक समग्र स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकी है—क्योंकि वह एक द्विभाजित संस्कृति है जिसका अर्थ होता है कि हमारा मन द्विभाजित मन है, अतः रुग्ण मन है। इस द्विभाजन को ही मैं संस्कृति का अन्तर्विरोध कहता हूँ। भारतीय वेदान्त परम्परा में सत्य की तीन कोटियाँ बतायी गयी हैं—पारमार्थिक सत्य, व्यावहारिक सत्य और प्रातिभासिक सत्य। लेकिन यदि हमारी दृष्टि प्रातिभासिक और व्यावहारिक प्रकार के सत्यों की पृष्ठभूमि में पारमार्थिक सत्य को नहीं देख पाती तो वह निश्चय ही अधूरी या द्विभाजित दृष्टि है। द्विभाजित दृष्टि द्विभाजित संस्कृति का ही विकास कर पाती है।

संस्कृति मूल्य दृष्टि मूल्यनिष्ठा होने के साथ साथ मूल्य को अर्जित करने की प्रक्रिया भी है। अतः इस ऐतिहासिक प्रक्रिया में विभिन्न भौगोलिक मानवीय और आर्थिक कारणों से कई बार ऐसे अन्तर्विरोध विकसित हो सकते हैं, लेकिन संस्कृति की जीवन्तता या सर्जनशीलता का एक लक्षण यह भी है कि वह निरन्तर इन अन्तर्विरोधों की पहचान करती रहती है। मनुष्य एक चेतन सत्ता है अतः उसमें यह क्षमता है कि वह इन अन्तर्विरोधों का समाधान कर उनके समाहार की दिशा में सचेष्ट हो सकता है। इसके बिना संस्कृति सड़ने लगती है और मर जाती है। संस्कृति जीवन्त होती है जीवाश्म नहीं। यदि आज हम अपनी बीमारी को समझने की कोशिश कर रहे हैं तो यह हमारी स्वास्थ्य चेष्टा का हमारी जीवेषणा का एक प्रमाण है।

किसी भी संस्कृति के केन्द्रीय प्रेरक तत्त्व या मूलभाव की पहचान का एक स्रोत उसकी सृष्टि परिकल्पना है। आदिम स्तर से लेकर सभ्यतम स्तर तक विभिन्न समाजों में जगत् की सृष्टि को लेकर अपनी अलग अलग परिकल्पनाएँ विकसित हुई हैं और उन समाजों की जीवन दृष्टि और जीवनयापन की पद्धति पर इन परिकल्पनाओं का निर्धारक प्रभाव रहता है। सृष्टि किस उद्देश्य से रची गयी है ? इस प्रश्न का उत्तर ही यह तय करता है कि मनुष्य के जीवन का प्रयोजन क्या है और उसे अपना जीवन कैसे जीना चाहिए। सृष्टि रचना का उद्देश्य ही निजी स्तर पर व्यक्ति और सामुदायिक स्तर पर पूरे सामाजिक जीवन का उद्देश्य बन जाता है क्योंकि उसी उद्देश्य और प्रक्रिया के साथ अपने को जोड़ देकर वह किसी दैवी उद्देश्य अथवा वृहत्तर जीवन और उसकी प्रक्रिया से अपने को जोड़ देता है। आधुनिक विचारधाराओं में भी तो इतिहास की प्रक्रिया व दिशा को पहचान कर अपने को उसके साथ कर देना ही वैज्ञानिक जीवन पद्धति और प्रगतिशीलता माना गया है। इसी प्रकार परम्परागत समाजों में सृष्टि की परिकल्पना में निहित उद्देश्य के साथ अपने को निष्ठापूर्वक एवं आचरणगत स्तर पर जोड़ देना ही जीवन के वास्तविक उद्देश्य की उपलब्धि की ओर उन्मुख होना माना जाता था। जब हम यह जान लेते हैं कि यह संसार, यह जीवन किस प्रयोजन से अस्तित्व में आया, तब हम यह भी जान लेते हैं कि क्या करने में हमारे अस्तित्व की सार्थकता है और तब यह आवश्यक हो जाता है कि न केवल हमारा व्यक्तिगत जीवन बल्कि सामाजिक आर्थिक संस्थाओं और प्रक्रियाओं की संगति भी इस मूल केन्द्रीय भाव या चरम मूल्य से हो। वही व्यवस्था वास्तविक अर्थों में सार्थक कही जा सकती है जो हमारे इस प्रकार निर्दिष्ट मूल उद्देश्य की सिद्धि के लिए उचित वातावरण एवं सुविधाएँ प्रदान करे और विचार एवं प्रक्रिया के हर स्तर पर उसमें सहायक हो। यही चरम मूल्य और सापेक्ष मूल्य की संगति, संस्कृति और सभ्यता की एकान्विति और व्यावहारिक सत्य में पारमार्थिक सत्य का प्रतिबिम्बन है।

भारतीय समाज में व्यापक स्तर पर स्वीकृत निर्गुण ब्रह्मवादी और सगुण-ईश्वरवादी दोनों ही प्रकार की सृष्टि की परिकल्पनाओं में यह स्पष्ट है कि सृष्टि एक परम चेतना का सर्जन है और यह सर्जन उसने अपने को जानने के आनन्द के प्रयोजन से किया है। परम चेतना निर्वैयक्तिक रूप में ब्राह्मण अथवा ब्रह्म कही गयी है और वैयक्तिक रूप में ईश्वर। ईश्वरवादी परिकल्पना में सृष्टि ईश्वर की लीला है जिसके माध्यम से वह अपने अस्तित्व के अनुभव का आनन्द लेता है। इस परिकल्पना को मान लेने पर मानवी जीवन का उद्देश्य यही हो जाता है कि वह जीवन को इसी लीलाभाव से ले क्योंकि तभी

वह ईश्वर के उद्देश्य में सहायक हो सकता है। सब कुछ ईश्वर द्वारा रचा गया है अतः सब कुछ बाह्य रूप से भिन्न होने पर भी एक ही ईश्वरीय तत्त्व से अनुप्राणित है। अपने में निहित इस ईश्वरीय तत्त्व की अनुभूति ही जीवन का उद्देश्य है। यही अपने को जानने का आनन्द है जिसके लिए यह लीला रची गयी है।

इसी तरह निर्गुण ब्रह्मवादी विचारधारा में सृष्टि को अव्यक्त परम चेतना की अभिव्यक्ति माना गया है। इसी परिकल्पना का पूर्ण विकास वेदान्त की अद्वैतवादी चिन्ता धारा में हुआ। इस सिद्धान्त के अनुसार परम सत्ता का यह स्वभाव है कि वह अपने को भिन्न भिन्न रूपों में अभिव्यक्त करती रहती है। अतः मनुष्य और समूची सृष्टि इसी परम चेतना या ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। इसलिए सभी आत्माओं और परमात्मा में तात्त्विक एकता है क्योंकि आत्मा परमात्मा का ही अंश है। इस कारण सृष्टि रचना का जो उद्देश्य परम सत्ता या चेतना का है वही व्यक्ति में निहित आत्मा का हो जाता है। ब्रह्म स्वयं के वास्तविक दर्शन के लिए अपने को जगत् के रूप में अभिव्यक्त करता है। आत्माभिव्यक्ति का उद्देश्य आत्मान्वेषण और आत्मानुभूति है। यह ब्रह्म का सहज स्वभाव है।

इसलिए इन सृष्टि परिकल्पनाओं के आधार पर यह आत्मानुभूति ही भारतीय संस्कृति का मूल प्रेरक भाव है — आत्मा का अन्वेषण और उसके बोध की अनुभूति का आनन्द। आत्मा कर्म प्रवृत्ति के माध्यम से जीवन में प्रवृत्त होती है और अपने वास्तविक स्वरूप की पहचान न होने पर अज्ञान के अन्धकार में भटकती रहती है। आत्मा का वास्तविक बोध अर्थात् अद्वैत की अनुभूति ही मोक्ष या मुक्ति की स्थिति है जिसे चरम पुरुषार्थ अर्थात् जीवन का चरम मूल्य माना गया है। ऐसा लगता है कि चार पुरुषार्थों में अर्थ और काम व्यावहारिक सत्य है तथा मोक्ष पारमार्थिक सत्य। धर्म इन दोनों को अन्तर्ग्रथित करने वाला सूत्र या प्रक्रिया है। उसी के कारण यह सम्भव हो पाता है कि पार्थिव का अस्वीकार न करते हुए उसे ही परम आध्यात्मिक उपलब्धि के साधन के रूप में विकसित किया जा सके। इसीलिए इस संसार को ही आध्यात्मिक मुक्ति का स्थान माना है — मोक्षायतं संसारं। स्वयं शंकराचार्य का कथन है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया का लक्ष्य आध्यात्मिक अनुभव—अवगति—ही है — जगत् सर्वाप्रवृत्तिः अवगतिनिष्ठा अवगत्यवसानत्वं। इसीलिए वैशेषिक सूत्रों में धर्म उसी को कहा गया है जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों की प्राप्ति होती है — यतो अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति में मानवजीवन का चरम मूल्य आत्म के वास्तविक स्वरूप का बोध—आत्मानं विद्धि स्वीकार किया गया और इसी के

इर्द गिर्द संस्कृति के स्वरूप, संगठन और प्रक्रिया का विकास हुआ। आत्म की प्राप्ति को चरम मूल्य के रूप में स्वीकार किया गया और सारी समाज व्यवस्था को इस तरह विकसित करने की कोशिश की गयी कि वह इस चरम मूल्य की सिद्धि में हर स्तर पर सहायक हो सके। इसीलिए भारतीय परम्परा में व्यवस्था को भी धर्म कहा गया। जिस प्रकार ऋत सम्पूर्ण सृष्टि का आधार माना गया इसी प्रकार धर्म सम्पूर्ण समाज रचना का। प्राचीन साहित्य में मूल्य और संस्कृति की चर्चा नहीं है, वहाँ सदैव धर्म की बात की गयी है—यद्यपि उस का तात्पर्य सदा वही है बल्कि उससे भी कुछ बृहत्तर है जो हम आज संस्कृति या मूल्य का मानते है। धर्म दृष्टि या धर्म निष्ठा का वही अर्थ और महत्त्व है जो आज की भाषा में मूल्य दृष्टि या मूल्य निष्ठा का है—धर्म का अर्थ किसी पन्थ या सम्प्रदाय से नहीं बल्कि एक जीवन-दर्शन और जीवन प्रक्रिया से है।

आप सोच रहे हो सकते है कि यहाँ तक के विश्लेषण में तो किसी तरह के सांस्कृतिक अन्तर्विरोध की बात ही नहीं है, बल्कि इस विवेचन के द्वारा तो एक बुनियादी ऐक्य पर ही अधिक बल दिया गया है। अधिक से अधिक आपत्ति किसी को हो सकती है तो यही कि वह आत्म के बोध को—और स्मरण रहे कि स्वतन्त्रता उसी का सामाजिक प्रतिबिम्ब है—एक चरम मूल्य के रूप में मानने को तैयार न हो। किसी को भी ऐसा सोचने और उसके अनुरूप आचरण करने का अधिकार है लेकिन इससे यह तथ्य नहीं झुठलाया जा सकता कि जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं उसका मूल प्रेरक भाव यही रहा। यह भाव आज भी प्रासंगिक है या नहीं, यह एक अलग चर्चा का विषय हो सकता है। अभी तो हमारे लिये यह देखना जरूरी है कि जिस मूल्य को भारतीय संस्कृति या धर्म की केन्द्रीय प्रेरणा के रूप में स्वीकार किया गया, उसके अनुरूप संस्कृति के समग्र स्वरूप का, उसके विभिन्न उपादानों का, उसके साधनात्मक स्वरूप का विकास हुआ या नहीं अर्थात् हमें यह देखना होगा कि किस हद तक भारतीय समाज व्यवस्था में वैयक्तिक और सामाजिक जीवन इसी मूल प्रेरणा के अनुरूप विकसित हो सका अथवा उसमें और मूल प्रेरणा में, साधनात्मक मूल्य और चरम मूल्य में, व्यावहारिक सत्य और पारमार्थिक सत्य में कोई विपर्ययोन्मुख द्विभाजन तो नहीं हो गया।

मेरी समस्या यहीं से शुरू होती है। 'सत्य सत्य नहीं है, यदि वह अपने समस्त विधान में विशुद्ध आत्मचेतना के संकेतो की अभिव्यक्ति न करे।' भारतीय संस्कृति की इस केन्द्रीय प्रेरणा—आत्मान्वेषण, आत्मानुभूति और आत्ममजन से पूर्ण सहमत होते हुए भी मैं उन सामाजिक विश्वासों और व्यवस्थाओं से

वह ईश्वर के उद्देश्य में सहायक हो सकता है। सब कुछ ईश्वर द्वारा रचा गया है अत सब कुछ बाह्य रूप से भिन्न होने पर भी एक ही ईश्वरीय तत्त्व से अनुप्राणित है। अपने में निहित इस ईश्वरीय तत्त्व की अनुभूति ही जीवन का उद्देश्य है यही अपने को जानने का आनन्द है जिसके लिए यह लीला रची गयी है।

इसी तरह निर्गुण ब्रह्मवादी विचारधारा में सृष्टि को अव्यक्त परम चेतना की अभिव्यक्ति माना गया है। इसी परिकल्पना का पूर्ण विकास वेदान्त की अद्वैतवादी चिन्ता धारा में हुआ। इस सिद्धान्त के अनुसार परम सत्ता का यह स्वभाव है कि वह अपने को भिन्न भिन्न रूपों में अभिव्यक्त करती रहती है। अत मनुष्य और समूची सृष्टि इसी परम चेतना या ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। इसलिए सभी आत्माओं और परमात्मा में तात्त्विक एकता है क्योंकि आत्मा परमात्मा का ही अंश है। इस कारण सृष्टि रचना का जो उद्देश्य परम सत्ता या चेतना का है वही व्यक्ति में निहित आत्मा का हो जाता है। ब्रह्म स्वयं के वास्तविक दर्शन के लिए अपने को जगत् के रूप में अभिव्यक्त करता है। आत्माभिव्यक्ति का उद्देश्य आत्मान्वेषण और आत्मानुभूति है। यह ब्रह्म का सहज स्वभाव है।

इसलिए इन सृष्टि परिकल्पनाओं के आधार पर यह आत्मानुभूति ही भारतीय संस्कृति का मूल प्रेरक भाव है आत्मा का अन्वेषण और उसके बोध का अनुभूति का आनन्द। आत्मा कर्म प्रवृत्ति के माध्यम से जीवन में प्रवृत्त होती है और अपने वास्तविक स्वरूप की पहचान न होने पर अज्ञान के अन्धकार में भटकती रहती है। आत्मा का वास्तविक बोध अर्थात् अद्वैत की अनुभूति ही मोक्ष या मुक्ति की स्थिति है जिसे चरम पुरुषार्थ अर्थात् जीवन का चरम मूल्य माना गया है। ऐसा लगता है कि चार पुरुषार्थों में अर्थ और काम व्यावहारिक सत्य है तथा मोक्ष पारमार्थिक सत्य, धर्म इन को अन्त ग्रथित करने वाला सूत्र या प्रक्रिया है। इसी के कारण यह सम्भव हो पाता है कि पार्थिव का अस्वीकार न करते हुए उसे ही परम आध्यात्मिक उपलब्धि के साधन के रूप में विकसित किया जा सके। इसीलिए इस संसार को ही आध्यात्मिक मुक्ति का स्थान माना है सो यायन संसार। स्वयं शंकराचार्य का कथन है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया का लक्ष्य आध्यात्मिक अनुभव-अवगति-की है जनन सर्वाप्रवृत्ति अवगतिनिष्ठा अवगत्यवसानव। कणाद द्वारा वैशेषिक सूत्र में धर्म उसी को कहा गया है जिससे अभ्युदय और निश्रेयस दोनों की प्राप्ति होती है यतो अभ्युदयनिश्रेयसिद्धि स धर्म।

इस प्रकार भारतीय संस्कृति में मानवजीवन का चरम मूल्य आत्म के वास्तविक स्वरूप का बोध-आत्मज्ञान सिद्धि स्वीकार किया गया और इसी के

शूद्र, वश्य और क्षत्रिय को मार डालना उपपातक माना है, और उसके लिए जो प्रायश्चित्त एव दण्ड की व्यवस्था बतायी गयी है, उससे स्पष्ट है कि शूद्र जीवन का महत्त्व बिल्कुल ही नगण्य सा था। क्षत्रिय को मारने पर प्रायश्चित्त था छ वष का ब्रह्मचय, 1000 गायो एव एक बल का दान। वश्य को मारने पर तीन वष का ब्रह्मचय, 100 गाया एव एक बल का दान किन्तु शूद्र को मारन पर प्रायश्चित्त था केवल एक वष का ब्रह्मचय एव 10 गाया और एक बल का दान। यही बात गौतम(22/14-36)मनु(11/126 30) एव याज्ञवल्क्य (3/366 67) मे भी पायी गयी है। आपस्तम्ब (1/9/25-14 एव 1/9/26/1) ने तो यहाँ तक कहा है कि शूद्र को मार डालने पर इतना ही पातक लगता है कि जितना कि एक कौआ, गिरगिट, मोर, चक्रवाक, मराल, मेढक, नेवला, कुत्ता आदि को मार डालने से होता है। (मनु 11/131) स्तर के अनुसार प्रत्येक कम मे इसी प्रकार का भेद किया गया है।

यह आश्चयजनक लगता है कि शकराचाय एव रामानुजाचाय जसे महान् अद्वतवादी दार्शनिको के काल मे वण व्यवस्था एव कठारतम जाति व्यवस्था के रूप मे विकसित हो गयी थी। अरब यात्री अलबरूनी ने तत्कालीन भारतीय समाज की कठोरता और जडता का आँखें खोल देने वाला वणन किया है। अधिक दु खपूण यह था कि इन महान् अद्वतवादियो ने भी 'जन्म' और 'रक्त' पर आधारित वण व्यवस्था को न केवल किसी प्रकार की चुनौती नही दी बल्कि उसे अपना पूरा समथन दिया! ऐसा क्यो है? सामाजिक स्तर पर इस तरह के विभाजन के द्वारा हम किस तरह के अद्वत की पुष्टि करते हैं? यदि अद्वत हमारा लक्ष्य है तो इस तरह के भेद पर आत्यन्तिक जोर क्या है? यह स्मरणीय है कि यह भेद केवल सामाजिक कम का नही बल्कि आत्यन्तिक भेद है क्योकि वणधम के उच्चावचक्रम मे ब्राह्मण को सर्वोत्तम और शूद्र को निम्नतम बताया गया है—बल्कि शूद्र का तो एकमात्र कत्तव्य ही यह है कि वह अन्य तीन वर्णों की सेवा करे।

कुछ विद्वानो के अनुसार वण व्यवस्था बाह्य स्तर पर तो समानता या अद्वत की भावना से अलग दीख सकती है लेकिन वस्तुत उसकी एक आन्तरिक सगति है क्योकि वह कमफल और पुनजन्म के सिद्धान्तो पर आधारित है। आत्मा नित्य है जो देहान्तर के द्वारा पुनजन्म लेती रहती है और उसके वतमान जन्म का निर्धारण उसके पूवजन्म के अनुसार होता है। यह सिद्धान्त निश्चय ही आध्यात्मिक चिन्तन के क्षेत्र मे मानवीय स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त को गौरव देता है क्योकि यह मनुष्य को कम की स्वतन्त्रता प्रदान करता और उसे

सहमत नहीं हो पाता हूँ जिनका विकास उपरिनिर्दिष्ट उद्देश्य की सिद्धि के प्रयोजन से किया गया। मुझे भारतीय संस्कृति के साध्य रूप और साधनात्मक रूप के बीच एक गहरा अन्तर्विरोध दीखता है जो दोनों एक केन्द्र से नहीं निसृत होते या मिलते बल्कि दो अलग केन्द्रों से समान्तर रेखाओं की तरह चलते हैं।

यह बहुत विचित्र लगता है कि जिस संस्कृति या धर्म ने पारमार्थिक सत्य या चरम मूल्य के रूप में अद्वैत की अनुभूति को—क्योंकि वही विशुद्ध आत्मा की वास्तविक अनुभूति है—प्रतिष्ठा दी, उसी ने व्यावहारिक सत्य या साधनात्मक मूल्य के रूप में वर्ण व्यवस्था जैसी स्तरभेदवादी व्यवस्था को जन्म दिया। व्यावहारिक सत्य के रूप में धर्म का एक रूप न केवल वर्णधर्म के रूप में स्वीकार किया गया बल्कि उसे सनातन व्यवस्था माना गया क्योंकि वह व्यावहारिक स्तर पर पारमार्थिक सत्य की अभिव्यक्ति की तरह मान्य था। वर्ण का आधार वह तात्त्विक एकत्व नहीं है जो अद्वैत का आधार है। वर्ण को सनातन और अनिवार्य मानना अनिवार्यतः एक द्वैत और उच्चावचक्रम को मान्यता देना है। यदि अद्वैत समाज का चरम मूल्य है तो सामाजिक व्यवस्था में भी उस का प्रतिबिम्बित होना अनिवार्य है। लेकिन वर्णधर्म का जो रूप समाज में विकसित हुआ वह इस मूल दृष्टि का सामाजिक स्तर पर प्रत्याख्यान करता है। कुछ लोग वर्ण की मनोवैज्ञानिक समाजशास्त्रीय और आध्यात्मिक व्याख्याएँ करते हैं। मैं उन सब मोहक व्याख्याओं से परिचित हूँ लेकिन यह एक ऐतिहासिक तथ्य है और आज के समाज में भी स्वतः प्रमाणित है कि वर्ण का निर्धारण अन्ततः किन्हीं गुणों या कर्म के आधार पर नहीं बल्कि जन्म के आधार पर आ टिका। डा. राधाकृष्णन् जैसे वर्ण व्यवस्था के व्याख्याता भी यह स्वीकार करते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों के काल से ही वर्ण के निर्धारण के लिए जन्म को ही मान्यता माना जाने लगा था।

बौद्ध और जैनधर्म द्वारा वर्ण व्यवस्था के विरोध का परिणाम यह हुआ कि यह प्रणाली और संकुचित हो गई। मनुस्मृति में जहां विभिन्न वर्णों के कर्मों का रूढ़ि की तरह निश्चित कर दिया गया वहीं ब्राह्मणों की तुलना में अन्य वर्णों के प्रति हेयता की भावना व्यक्त की गयी और शूद्रों के लिए तो स्पष्ट ही तिरस्कारपूर्ण शब्दावली का प्रयोग किया गया। एक ही अपराध के लिए ब्राह्मणों का दण्ड मृदु और अन्य वर्णों का क्रमशः कठोरतर रखा गया। स्वयं को अद्वैतवादी कहने वाला और जीवन मात्र के प्रति करुणा और प्रेम का भाव पुष्ट करने वाली हिन्दू समाज व्यवस्था में शूद्र वर्ण की उपेक्षा और उनके जीवन को सस्ता समझना बहुत अमानवीय लगता है। याज्ञवल्क्य (3/236) एवं मनु (11/66) में ब्राह्मण की हत्या को महापातक कहा है जब कि स्त्री,

शूद्र, वश्य और क्षत्रिय को मार डालना उपपातक माना है, और उसके लिए जो प्रायश्चित्त एव दण्ड की व्यवस्था बतायी गयी है, उससे स्पष्ट है कि शूद्र जीवन का महत्त्व बिल्कुल ही नगण्य सा था। क्षत्रिय का मारने पर प्रायश्चित्त था छ वर्ष का ब्रह्मचर्य, 1000 गायो एव एक बैल का दान। वश्य को मारने पर तीन वर्ष का ब्रह्मचर्य, 100 गायो एव एक बैल का दान किन्तु शूद्र को मारने पर प्रायश्चित्त था केवल एक वर्ष का ब्रह्मचर्य एव 10 गायो और एक बैल का दान। यही बात गौतम(22/14 36)मनु(11/126-30) एव याज्ञवल्क्य (3/366 67) म भी पायी गयी है। आपस्तम्ब (1/9/25-14 एव 1/9/26/1) ने तो यहाँ तक कहा है कि शूद्र को मार डालने पर इतना ही पातक लगता है कि जितना कि एक कौआ, गिरगिट, मोर, चक्रवाक, मराल, मेढक, नेवला, कुत्ता आदि को मार डालने से होता है। (मनु 11/131) स्तर के अनुसार प्रत्येक कम में इसी प्रकार का भेद किया गया है।

यह आश्चर्यजनक लगता है कि शकराचार्य एव रामानुजाचार्य जसे महान् अद्वैतवादी दार्शनिको के काल मे वर्ण व्यवस्था एक कठोरतम जाति व्यवस्था के रूप मे विकसित हो गयी थी। अरब यात्री अलबरूनी ने तत्कालीन भारतीय समाज की कठोरता और जडता का आँखें खोल देने वाला वर्णन किया है। अधिक दु खपूर्ण यह था कि इन महान् अद्वतवादियो ने भी 'जन्म' और 'रक्त' पर आधारित वर्ण व्यवस्था का न केवल किसी प्रकार की चुनौती नहीं दी बल्कि उसे अपना पूरा समर्थन दिया। ऐसा क्यो है? सामाजिक स्तर पर इस तरह के विभाजन क द्वारा हम किस तरह के अद्वत की पुष्टि करते हैं? यदि अद्वत हमारा लक्ष्य है तो इस तरह के भेद पर आत्यन्तिक जोर क्यो है? यह स्मरणीय है कि यह भेद केवल सामाजिक कम का नहीं बल्कि आत्यन्तिक भेद है क्योकि वर्णधर्म के उच्चावचक्रम मे ब्राह्मण को सर्वोत्तम और शूद्र को निम्नतम बताया गया है—बल्कि शूद्र का तो एकमात्र कत्तव्य ही यह है कि वह अन्य तीन वर्णों की सेवा करे।

कुछ विद्वानो के अनुसार वर्ण व्यवस्था वाह्य स्तर पर तो समानता या अद्वत की भावना से अलग दीख सकती है लेकिन वस्तुत उसकी एक आन्तरिक सगति है क्योकि वह कर्मफल और पुनर्जन्म के सिद्धान्तो पर आधारित है। आत्मा नित्य है जो देहान्तर के द्वारा पुनर्जन्म लेती रहती है और उसके वर्तमान जन्म का निर्धारण उसके पूर्वजन्म के अनुसार होता है। यह सिद्धान्त निश्चय ही आध्यात्मिक चिन्तन के क्षेत्र मे मानवीय स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त को गौरव देता है क्योंकि यह मनुष्य को कर्म की स्वतन्त्रता प्रदान करता और उसे

यह भी अजीब लगता है कि जहाँ एक ओर वास्तविक 'आत्म' की पहचान पर सर्वाधिक बल दिया गया, वहीं दूसरी ओर 'आत्मा' को वर्ण से इस तरह घेरा गया कि उसे तोड़ना एक दुष्कर कार्य हो गया। दैनन्दिन कर्म में वर्ण का आग्रह इतना प्रबल किया गया कि व्यक्ति की पहचान का एक प्रमुख रूप वर्ण बन गया। 'स्व' को वर्ण से किस तरह एक कर दिया गया इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि 'स्वधर्म' भी वर्णधर्म ही हो गया। इसी के साथ ही यह प्रश्न भी उठता है कि यदि किसी भी कर्म—व्याधकर्म या ऐसे ही शूद्रकर्म—का पालन करते हुए मोक्ष लाभ हो सकता है तो यह समझ में नहीं आता कि शारीरिक श्रम पर आधारित कर्म को निम्न स्तर का क्यों समझा गया है? शारीरिक श्रम या सेवा शूद्र वर्ण का कार्य है और इसीलिए उसे निम्नतम स्थान दिया गया है। यदि शूद्र कर्म आध्यात्मिक उपलब्धि में मार्ग में बाधक नहीं है और वह भी आत्मज्ञान का एक साधन हो सकता है तो उसे हेय समझने और उसके प्रति तिरस्कार की भावना रखने को संगत नहीं माना जा सकता। वर्णधर्म के नाम पर यह सारी व्यवस्था उसी धर्म के अन्तर्गत की गयी है जो अद्वैत में आस्था प्रकट करता है। यह तो हो सकता है कि व्यक्तिगत दुर्बलताओं की वजह से हम आदर्शों का पालन ठीक तरह से न कर पायें लेकिन हमारे दार्शनिक विश्वासों और घोषित सामाजिक मान्यताओं के बीच भी यदि कोई संगति न मिले तो उसे दृष्टि का अन्तर्विरोध ही कहना होगा। ऐसा क्यों हुआ, इसके कारणों की खोज तो आवश्यक है ही पर यह भी आवश्यक है कि इस असंगति को दूर करने की ओर सचेष्ट हुआ जाय क्योंकि चरम मूल्य और उसकी सिद्धि के लिए विकसित प्रक्रिया में जब तक संगति नहीं होगी तब तक समाज का विकास भी द्विभाजित ही रहेगा। चरम मूल्य और साधनात्मक मूल्य के बीच निरन्तर बढ़ती हुई यह दरार पूरे समाज में, समाज के प्रत्येक सदस्य के व्यक्तित्व में एक द्विभाजन विकसित कर देगी। ऐसा द्विभाजित व्यक्तित्व—व्यक्ति का हो या समाज का—किसी अद्वैत की साधना नहीं कर सकता—बल्कि व्यक्तित्व का यह द्विभाजन सिर्फ वर्ण के स्तर पर ही नहीं सभी स्तरों पर अभिव्यक्ति पाने लगता है।

यह वर्णधर्म का ही प्रभाव मानना चाहिए कि भारतीय समाज में कर्म या आचरण की स्वतन्त्रता जैसी मानवीय धारणा का व्यावहारिक स्तर पर प्रयोग नहीं किया जा सका। स्वतन्त्रता का आशय केवल विचार या विश्वासों की ही स्वतन्त्रता रहा। यह भी विचित्र लगता है कि विचारों और विश्वासों के दमन की कोशिश नहीं की गयी और विरोधी विचार रखने वालों के प्रति भी पूर्ण सम्मान प्रदर्शित किया गया। लेकिन कर्म या आचरण में किसी तरह की स्वतन्त्रता को स्वीकार नहीं किया गया। ईश्वर में आस्था न रखने वाले या

वर्णविचार का यथारीति विरोध करने वाले लोग समाज के प्रतिष्ठित सदस्य बने रह सकते थे लेकिन विवाह, खान पान और संस्कारों तथा सामाजिक आचार-व्यवहार में उन्हें भी निर्दिष्ट विधि का ही पालन करना पड़ता था। विश्वास की स्वतन्त्रता थी पर आचार की स्वतन्त्रता सामाजिक बहिष्कार का कारण बन सकती थी—बल्कि यदि असावधानीवश या बलात् आचार च्युति हो गई हो तो वह भी क्षम्य नहीं थी। सैद्धान्तिक दृष्टि से आज भी यही सही है यद्यपि अन्य सामाजिक-आर्थिक जटिलताओं के कारण इस ओर कुछ शिथिल समाधि होने लगी है। अन्यथा आचरण की स्वतन्त्रता का तात्पर्य वर्णच्युति माना जाकर ऐसे व्यक्तियों के सामाजिक बहिष्कार को—जो एक बड़ा दण्ड था—ही एकमात्र उपाय माना गया। इस बात की ओर किसी का ध्यान नहीं गया कि इस प्रकार कर्म या आचरण की उसी स्वतन्त्रता को बाधित किया गया है जिसे सैद्धान्तिक स्वीकृति दी गयी थी। साथ ही इस बात की भी अनदेखी की गयी कि विश्वास और आचरण में भेद व्यक्तित्व को खण्डित करता है और खण्डित व्यक्तित्व उस मूल्य को प्राप्त करने के मार्ग में बाधा है जिसे संस्कृति में जीवन का चरम उद्देश्य माना गया है। हमें देखना चाहिए कि विश्वास और आचरण के इस द्वैध ने भारतीय मानस को किस हद तक द्विभाजित किया है और किस तक बहुत-सी सामाजिक आर्थिक राजनैतिक असंगतियाँ इसी द्विभाजन का परिणाम कही जा सकती हैं।

वर्णधर्म की इस अनमनीयता का एक असर यह भी हुआ कि परम्परागत भारतीय समाजव्यवस्था और इस्लाम के बीच एक अलगाव बना रहा। ऐसा लगता है कि यदि भारतीय समाज ने वर्ण की कठोरता न विकसित की होती तो अद्वैत वेदान्त और सूफी दर्शन की समानताएँ दोनों समाजों के बीच एक सार्थक और व्यापक स्तर पर प्रभावी समन्वय स्थापित कर सकती थीं और तब कुछ आवश्यक सामाजिक भेद अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाते। किसी ऐसी जाति की कल्पना मुश्किल है कि सम्पूर्ण जगत् में तात्त्विक ऐक्य तथा केवल अभिव्यक्तिगत भिन्नता मानते हुए भी दूसरे मनुष्य और समाजों को इतना अलग माना जाये कि उनकी छाया अथवा छूने मात्र से खान पान की वस्तुएँ ही नहीं मनुष्य तक भी अपवित्र हो जायें। लेकिन यह दुर्घटना भारतीय समाज का एक तथ्य रही और काफी हद तक आज भी बनी हुई है। अद्वैत में आस्था रखने वाले समाज ने मध्यकाल तक आते आते न केवल अन्य धर्मावलम्बियों के साथ खान पान और सामाजिक सम्बन्धों का निषेध किया बल्कि स्वयं अपने में भी ऐसी दरारें पैदा कर दी जो आज तक समाज की प्रमुख विसंगति बनी हुई है। हिन्दुत्व और इस्लाम का सम्पर्क भारत में एक ऐतिहासिक अनिवार्यता हो गया लेकिन इस सम्पर्क के जितने व्यापक प्रभाव

हो सकते थे वे कम हुए। इस्लाम की उपासना पद्धति से—बल्कि किसी भी उपासना पद्धति से—भारतीय परम्परा का कोई बुनियादी विरोध नहीं था लेकिन अन्य कारणों के साथ साथ जिन मे इस्लामी समाज की अपनी भूमिका भी महत्वपूर्ण थी—वर्ण के आग्रह ने दोनों समाजों को एक करने में कई बाधाएँ उपस्थित कीं।

ऐसा नहीं है कि मूल प्रवृत्ति के अनुकूल प्रयत्न नहीं हुए। निर्गुणपंथ और वैष्णव संतों ने वर्ण और सम्प्रदाय के भेद को महत्वपूर्ण न मानते हुए मानवी जीवन की तात्त्विक एकता पर बल दिया। लेकिन अल्प समय ही में वैष्णव सम्प्रदाय ने व्यावहारिक स्तर पर वर्णभेद को स्वीकार कर लिया और उसके अनुयायी अपने सामाजिक जीवन में वर्ण और जाति के सभी सामाजिक भेदों को स्वीकार करते रहे। कबीर और दादू जैसे सन्तों का असर समाज के निम्न वर्ण पर ही अधिक रहा। इस पृष्ठभूमि में यह आश्चर्यजनक नहीं लगता कि सवर्ण भारतीय समाज ने कबीर की बजाय तुलसीदास को क्यों अपने अधिक निकट महसूस किया।

प्रश्न उठता है कि यह अनमनीय वर्णधर्म और इस के साथ जुड़ा सामाजिक स्तरभेद तथा निम्न वर्ण और उसके लिए निहित कर्म के प्रति तिरस्कार और उसे मूल्यहीन समझने की भावना, अन्य धर्मावलम्बियों को अपने से हीन मानना तथा सैद्धांतिक स्तर पर कर्म की पूर्ण स्वतंत्रता स्वीकार करते हुए सभी प्रकार के सामाजिक धार्मिक कर्मों को करणीय कर्तव्यों की तरह नहीं बल्कि सामाजिक बंधन की तरह प्रत्येक व्यक्ति पर आरोपित कर देना क्या मूल दृष्टि या चरम मूल्य का विपर्यय नहीं है।

कुछ विद्वानों ने वर्णधर्म की समाज-वैज्ञानिक व्याख्या करते हुए उसे सामाजिक श्रम विभाजन की प्रणाली बताया है। लेकिन यदि ऐसा ही होता तो इस श्रम विभाजन को जन्म और रक्त आधारित करने की आवश्यकता नहीं होती बल्कि इस का आधार व्यक्ति की निजी प्रवृत्तियाँ होतीं। तब यह श्रम विभाजन सनातन और आत्यन्तिक नहीं होता। धर्मव्याध ब्राह्मण को कहता है 'जिस कर्म के लिए सजनकर्ता ने मुझे जन्म दिया है मैं उसमें रत हूँ। मैंने अपना जीवन अपने उच्चवर्णों के लोगों के लिए अर्पित कर दिया है मेरा वर्तमान धर्म पूर्वजन्म के पापों और कर्मों का परिणाम है महान् गौरव उसे ही मिलता है जो अपने वर्णधर्म में रत रहता है।' यह विश्लेषण सुन कर ब्राह्मण यह सोचता है कि अपनी वर्णधर्मपरायणता के कारण यह धर्मव्याध शूद्र नहीं बल्कि ब्राह्मण है। लेकिन यह सोचना बिलकुल भावनात्मक है और इसका आधार वर्णधर्म का समर्थन है। ऐसा सोचने से धर्मव्याध ब्राह्मण नहीं हो

जाता बल्कि शूद्र के लिए निहित उसी कर्म का पालन करता रहता है जिसको किसी भी स्थिति में करने पर ब्राह्मण पर सख्त निषेध लगाये गए हैं। यदि वर्ण का आधार एक सुनियोजित सामाजिक व्यवस्था के लिए श्रम विभाजन ही होता तो एक वर्ण को निम्न मानते हुए उस के कर्म के प्रति तिरस्कार और निन्दा की भावना नहीं होती बल्कि श्रम की प्रतिष्ठा की जाती और न शूद्र वर्ण को वैदिक स्वाध्याय और कर्मों से ही वंचित किया जाता जबकि कहीं-कहीं तो व्यवस्था की गयी है कि यदि भूल से भी वेदवाक्य शूद्र के कानों में पड़ जाय तो उसका दण्ड है उसके कानों में पिघला हुआ शीशा भरवा देना।

विद्वानों का यही वर्ग कभी कभी वर्ण विभाजन का गुणों के आधार पर किये गये अधिकारी भेद का परिणाम मानता है। लेकिन यह मान्यता भी तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। यदि ऐसा होता तो प्रतिलोम विवाहों को अनुचित नहीं माना गया होता और न वर्ण संकरता का विचार ही विकसित होता। वर्णसंकरता का विचार ही जन्म के आधार पर वर्णविभाजन के सिद्धान्त से उपजा है। यदि अधिकारी भेद किसी तरह की आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए है तो इसे आत्यंतिक नहीं माना जा सकता। अलग साधनों से ही सही निम्न वर्ण का व्यक्ति भी चरम मूल्य तक पहुँच सकता है और उच्च वर्ण होने का तात्पर्य मुक्ति के अधिक नजदीक होना नहीं है। इसी तरह वैदिक कर्मकाण्ड और तपस्या के बिना भी मोक्षलाभ हो सकता है। ऐसी स्थिति में वर्णाश्रित अधिकारी भेद का कोई आत्यंतिक या सनातन महत्त्व नहीं रह जाता।

इसलिए यह एक ऐतिहासिक विसंगति ही लगती है कि आध्यात्मिक स्तर पर अद्वैत और सामाजिक स्तर पर 'वसुधैवकुटुम्बकम्' के प्रति आस्था घोषित करने वाली संस्कृति व्यावहारिक सत्य या सामाजिक आचार विश्वास के स्तर पर इतने द्वैत, भेद और संकीर्णता रखे। उन प्रवृत्तियों और परिस्थितियों का सांगोपांग अन्वेषण जरूरी है जिन की वजह से इस तरह के अन्तर्विरोध विकसित हुए।

इसमें कोई सन्देह नहीं—कम से कम मुझे तो नहीं—कि चरम मूल्य के रूप में भारतीय संस्कृति ने जिस अद्वैत के विचार को, वास्तविक आत्म की अनुभूति को केन्द्र में रखा उसे आधार बना कर एक ऐसी समाज व्यवस्था विकसित की जा सकती थी, की जा सकती है जो व्यावहारिक स्तर पर किसी भी तरह के शोषण, उत्पीड़न और सामाजिक अन्याय का प्रतिकार करती और पारस्परिक तात्त्विक आकर्षण का अनुभव करने वाले समतामूलक समाज की स्थापना में सहयोगी होती। पार्थिव और दिव्य के बुनियादी द्वन्द्व का समाहार करने में जो

अद्वतवादी दृष्टि सफल हुई हो उसमे सामाजिक द्वन्द्वों के समाहार का रास्ता भी तलाशा जा सकता है। अद्वत की इस अनुभूति के बिना प्रेम, करुणा, अहिंसा, समानता और न्याय अधिक से अधिक केवल नैतिक धारणाएँ रह जाते हैं, मनुष्य की सहज प्रवृत्तिया नही बनते। यदि इस मूल दृष्टि को हर सम्भव सीमा तक व्यावहारिक स्तर पर विकसित नही किया जाता तो भारतीय समाज का ही नही बल्कि वश्विक मानव समाज का विभाजन तीव्र होता जायेगा जिसका आवश्यक परिणाम होगा विघटन, हिंसा और विनाश अर्थात् सस्कृति पर विकृति की, मानवीयता पर पाशविकता की विजय। मैं डॉ सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के इन शब्दो के साथ अपनी बात पूरी करना चाहता हूँ 'सच्ची प्रगति वृक्ष के विकास की भाँति एक सजीव प्रक्रिया है। हमे निष्प्राण लकडी को काट देना होगा और निस्तेज अतीत को भी परे फेंक देना होगा। हम अतीत म इतनी बार बदलते रहे हैं कि केवल परिवतन भर से धम की आत्मा अव्यवस्थित नही हो जायगी। हमारी कुछ सस्थाएँ सामाजिक न्याय और आर्थिक कल्याण के माग म दुजय बाधाएँ बन गयी हैं और हमे इन बाधाओ को हटाने के लिए प्रयास करने होग, अन्धविश्वास को बनाये रखने वाली शक्तिया के विरुद्ध युद्ध करना होगा और लोगो के मनो को नया रूप देना होगा। इन दिनो जबकि जीवन की गति तीव्रतर हो रही है, ज्ञान बढ रहा है और आकाक्षाएँ विस्तार पा रही हैं, हम परिवतन करने ही होंगे, अन्यथा इस का तात्पय यह होगा कि हम सजन की भावना खो चुके हैं और निष्प्राण अन्त तक आ पहुँचे है।'

आधुनिकता . सामाजिक सन्दर्भ

आधुनिकता का सवाल हमारे समय के उलझे हुए सवालो मे एक है। आधुनिकता के किन्ही निश्चित लक्षणो का निर्धारण और उनके आधार उसके किसी निश्चित स्वरूप की परिभाषा और पहचान का काम यदि मुश्किल और शायद इसीलिए उतना ही विचारोत्तेजक है तो उसका एक कारण यह भी है कि उसमे कोई ऐसा पूर्वनिर्धारित तात्त्विक लक्षण नही है जिसमे कोई परिवर्धन परिवर्तन या विकास सम्भव न हो। वह दृष्टि है या मूल्य, इस पर भी इसीलिये विवाद रहा है कि हम वस्तुत उसे किसी अवधारणा के रूप म नही एक सन्दर्भगत प्रक्रिया के रूप म ही पहचान पाते हैं। एक प्रक्रियागत अभिवृत्ति के रूप मे अर्थात् एक ऐसी प्रवृत्ति जो निरन्तर प्रक्रिया मे है अर्थात् निरन्तर विकासशील है। आधुनिकता एक निरन्तर विकसनशील प्रक्रिया है और इसीलिये हम उसे परिभाषित करने की कोशिश म देशकाल बद्ध रूप म प्राचीन से अलग करके देखते हैं और दृष्टि के रूप मे रूढ़िवादिता से। इतने ही से जाहिर है कि वह एक दृष्टि है—वह दृष्टि जो मूल्यो की खोज म रत है अत मूल्यो को उसमे काटकर नही देखा जा सकता क्योंकि उसकी सही पहचान भी तो उसी के कारण सम्भव है। इसलिये बेहतर होगा यह कहना कि वह एक निरन्तर विकसनशील दृष्टि प्रक्रिया है।

लेकिन इतना भर कह देने स कुछ स्पष्ट नही होता—चाहे सुनने मे यह कितना ही अच्छा लगे। यदि वह निरन्तर विकसनशील दृष्टि प्रक्रिया है तो वह विकास किस दिशा की ओर उन्मुख है ? वह दृष्टि क्या है ? और वह प्रक्रिया किस तरह की है ? इन सवालो का सर्वसम्मत जवाब तो मेरे पास नही है लेकिन सवालो के परिप्रेक्ष्य का थोडा और खुलासा कर देने स पूरी बात को समझने म शायद कुछ मदद मिले।

आधुनिकता एक खास तरह की मानसिक अभिवृत्ति या दृष्टि के विकास की प्रक्रिया है अत उसे ऐतिहासिक परिस्थितियो स काटकर देखना मुनासिब नही है। शायद इसीलिए ऐतिहासिक प्रवृत्ति क रूप म उसे पुनर्जागरण या रेनसाँ के साथ जोड कर देखा जाता है। लेकिन इसम भी हम अक्सर एक महत्त्वपूर्ण बात की अनदेखी कर जाते हैं—और वह यह कि रेनसाँ का

विकासक्रम की दृष्टि से दो भागों में बाँट कर देखा जाता है पहला है प्रारम्भिक पुनर्जागरण जिसे हम विचार की सुविधा के लिए एक ऐसा वचारिक पुनर्जागरण कह सकते है जिसका केन्द्रीय भाव मानवीय गरिमा की स्थापना रहा। इसी के प्रभाव मे मनुष्य को केन्द्र म रखकर सारे ब्रह्माण्ड और ईश्वर तक के साथ तक नया रिश्ता कायम करने की प्रवृत्ति विकसित हुई। इतिहास की पुस्तको मे इसी कारण पुनर्जागरण की एक प्रमुख प्रवृत्ति के रूप मे मानववाद को स्वीकार किया गया है। सृष्टि मे सबसे अधिक महत्त्व मनुष्य को दिया गया, अत उसे समझने की कोशिश म भी आप्त वाक्यो की बजाय मनुष्य की स्वतन्त्र चेतना और अनुभवशीलता को प्रमाण मानने की प्रवृत्ति का बलवती होना स्वाभाविक था। इसीलिये पुनर्जागरण का अगला चरण वैज्ञानिक जिज्ञासा के विकास के रूप म सामने आया। मनुष्य का विवेक तक और प्रमाणो के आधार पर ही किसी बात को स्वीकार कर सकता था, अत सवसम्मत समझे जाने वाले सत्यो और धमशास्त्रो के आप्त वाक्यो को भी उपलब्ध तथ्यात्मक प्रेक्षण के आधार पर परखा जाने लगा और जब शुरू म ही बहुत से आप्त सत्य गलत साबित हुए तो मनुष्य और सृष्टि के रहस्य के अन्वेषण की प्रक्रिया और तेज हुई। प्राकृतिक विज्ञानो का विकास इसी प्रवृत्ति का परिणाम था।

वह युग कितनी अन्धश्रद्धा और रूढ़िप्रियता का युग था इस बात का पता इसी से चल जाता है कि तत्कालीन सत्ताकेन्द्र चच—आज के सत्ताधारियो की ही भाँति—गैलीलियो और उनके समानधर्मा अन्य विचारको को न केवल किसी प्रकार की वचारिक स्वतन्त्रता देने के लिए तयार नही हुआ बल्कि स्पष्टतया प्रमाणित हो जाने पर भी नवउजागर सत्यो को मानने के लिए राजी नही हो सका। जब पीसा की मीनार से गिराये गये दस पौंड और एक पौंड वजन वाले दोना पिंड धरती पर एक साथ आ कर गिरे तब भी पडित लोगो ने यही माना कि उनकी आँखें धोखा खा रही होगी, क्योकि यह असम्भव था कि अरस्तू ने कुछ गलत लिख दिया हो। गलीलियो ने दूरबीन स बृहस्पति के उपग्रहो को देखने के लिए प्रोफेसर लोगो को बुलाया तो उन्होने उसे एक बेकार भ्रम समझकर आने से इनकार कर दिया क्योकि अरस्तू ने इनके बारे म कुछ भी नही कह रखा था। सौरमडल का केन्द्र सूय है और पृथ्वी उसके चारो ओर चक्कर निकालती है, इस सिद्धान्त का समथन करने के लिए चच द्वारा गलीलियो को कारागार म डाल दिया गया क्योकि यह तथ्य धमपथो और चच की राय के प्रतिकूल था।

गलीलियो का यह सघष आप्त वाक्यो और अविचारित सत्यो के विरुद्ध मानवीय विवेक का सघष था, यह एक अनुदार सत्ता सस्थान के खिलाफ मानवी

स्वतंत्रता का संघर्ष था, अंधविश्वास के विरुद्ध वैज्ञानिक जिज्ञासा का संघर्ष था। कहा जा सकता है कि इस संघर्ष में आधुनिक दृष्टि के सारे बीज विद्यमान थे। यही कारण रहा कि आगामी इतिहास में सामाजिक, राजनीतिक स्तर पर व्यक्ति की स्वाधीनता, बराबरी और भाईचारे के सिद्धान्त विकसित हुए, साहित्य में रोमांटिसिज्म की प्रवृत्ति प्रबल हुई और ज्ञान के क्षेत्र में विज्ञानसम्मत चिंतन का जोर बढ़ता गया।

ऐतिहासिक परिस्थितियों—विशेष तौर पर आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियों की वजह से वैज्ञानिक शोध का कार्यक्षेत्र निरंतर विस्तार पाता गया—बल्कि विज्ञान को मानवीय अनुभूतियों से भी श्रेष्ठ स्थान दिया जाने लगा। ज्ञान का एकमात्र आधार या कसौटी विज्ञानसम्मत प्रेक्षण को माना जाने लगा। यह भावना विकसित हुई कि यह ब्रह्माण्ड एक सुसंचालित व्यवस्था है और और उसके नियमों की खोज के द्वारा ही मनुष्य को भी समझा जा सकता है क्योंकि वह इसी ब्रह्माण्ड का एक अंश है—बल्कि मनुष्य के कार्यों का औचित्य विज्ञानसम्मत होने में ही समझा जाने लगा। इसका सीधा अर्थ था मनुष्य की स्वाधीनता या स्वतंत्र संकल्प शक्ति को नकार कर—जो प्रारम्भिक पुनर्जागरण का एक लक्षण थी—उसके आचरण का यांत्रिक प्रक्रिया की तरह समझने की दृष्टि का विकास अर्थात् मानववादी आधार पर विकसित दृष्टि की उपेक्षा। आधुनिकता का तात्पर्य हो गया वैज्ञानिक दृष्टि जिसका मतलब था विज्ञान की खोजों के निष्कर्षों के अनुकूल जीवनदृष्टि व मूल्यों का विकास। यह भुला दिया गया कि विज्ञान अपनी प्रक्रिया और निष्कर्षों में नीति निरपेक्ष है अर्थात् मूल्यों का जगत उसके क्षेत्र से बाहर है। इसके नतीजे क्या हुए? न्यूटन की भौतिकी में बल की केन्द्रीय धारणा और डार्विन के विकासवाद में 'योग्यतम के अस्तित्व' के सिद्धान्त ने पूंजीवाद उपनिवेशवाद, नस्लवाद पिछड़े राष्ट्रों के शोषण और दमन तथा युद्धों के माध्यम से अपनी शक्ति के विस्तार को ऐसा मनोवैज्ञानिक नैतिक समर्थन दिया जो विज्ञानसम्मत समझा जाता था।

यह कहना तो पूर्ण सत्य नहीं होगा कि इन वैज्ञानिक शोधों के प्रभाव से ही ये प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं—क्योंकि तत्कालीन आर्थिक राजनीतिक परिस्थितियों की भूमिका ही इन प्रवृत्तियों के विकास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण रही। लेकिन इतना तो स्पष्ट ही है कि वैज्ञानिक शोधों ने जिस टेक्नोलाजी का विकास किया उसने भी आर्थिक राजनीतिक परिवर्तन में महत्वपूर्ण योगदान दिया—यहाँ तक कि लोकतंत्र जैसी मानववादी धारणा और उससे प्रभावित व्यवस्था का विकास—और उसकी विकृति भी—प्रौद्योगिकी और औद्योगीकरण

के सहजीवी रहे। यदि लोकतन्त्र का विकास एक मानवीय मूल्य के रूप मे हुआ होता तो पिछडे राष्ट्रो पर आधिपत्य और साम्राज्यवाद की जो अमानवीय होड विभिन्न पूजीवादी साम्राज्यवादी राष्ट्रो के बीच हुई वह न होती। यह आश्चयजनक है कि इन राष्ट्रो मे इस अन्तर्विरोध की पीडा का अहसास नगण्य सा रहा। सवाल उठना चाहिये कि ऐसा क्यो हुआ ? उपनिवेशवादी-साम्राज्यवादी प्रवृत्तिया का युग एक ऐसे समाज म आशा और उत्साह का युग कस हो गया जिसके नये विकास की नीव मानववाद के आधार पर रखी गयी थी ? क्या अन्तर्विरोध की पीडा और उसका अपराध बोध उनम विकसित नही हुआ ? बाद के यूरोपीय समाज मे भी यदि कोई पीडा उभर कर व्यक्त होती है तो यह औद्योगीकरण और युद्धा म यूरोपीय जन के सहार की वजह से उत्पन्न निराशा और अवसाद की पीडा है। कही कही एक आध्यात्मिक पीडा का स्वर जरूर मुखरित है लेकिन वह गर यूरोपीय जातियो के शोषण और दमन से उत्पन्न ग्लानि की पीडा नही है। बहुत से विचारको और समाजशास्त्रियो को इस बात का दुख है कि आधुनिकता का हश्र महायुद्धो के नरसहार जाति हत्याओ और अणुबमो मे हुआ। और तब इस सत्रस उत्पन्न विक्षोभ, निराशा सन्त्रास, कुठा आदि की भावना को भी आधुनिकता माना जान लगा। आधुनिक सामाजिक मन का मतलब हो गया कुठित अनिश्चयी द्विधाग्रस्त, चिरसशयी और तनावग्रस्त मन। वह उल्लास और आनन्द स्वप्न भी नही रहे जो प्रारम्भिक रेनेसा युग मे मानवीय स्वाधीनता की अनुभूति के परिणाम थे। यह नही समझना होगा कि उपरिनिर्दिष्ट प्रवृत्तियाँ आधुनिक मन का परिचय नही देती—वे भी एक अनिवाय ऐतिहासिक परिस्थिति की उपज थी और आधुनिक मन उनकी उपेक्षा नही कर सकता था।

क्या यह निरूपण सही है ? हमे देखना होगा कि ये सब आधुनिकता की प्रक्रिया के स्वाभाविक परिणाम थे या कि आधुनिकता की प्रक्रिया ही विकृत हो गयी ? क्या आधुनिकता और वैज्ञानिकता एक ही चीज है ?

थोडा सा विश्लेषण करने पर ही स्पष्ट हो जायेगा कि आधुनिकता का अथ वैज्ञानिकता नही है। हमने शुरू मे ही स्पष्ट किया था कि एक ऐतिहासिक प्रवृत्ति के रूप म आधुनिकता मानवीय विवेक की स्वतन्त्रता पर बल देती थी—अथात् मनुष्य की विचारशीलता और अनुभूति पर। विज्ञान उसका एक स्रोत तो हो सकता था होना चाहिये भी पर एकमात्र स्रोत नही। विज्ञान स्वय विवेक नही है—बल्कि विवेक के बिना विज्ञान का प्रयोग भी गलत उद्देश्यो के लिए किया जा सकता है किया गया है। मनुष्य के व्यवहार को भौतिकीय नियमो से न तो समझा जा सकता है और न उसके आधार पर

उसका औचित्य ही सिद्ध किया जा सकता है। विज्ञान का प्रयोजन था सत्य की शोध लेकिन वह शक्ति प्राप्त करने का साधन बन गया। किसी ज़माने म धम सत्य को जानने का एक साधन था लेकिन जिस तरह वह शक्ति का स्रोत बन गया, उसी तरह आधुनिक काल मे विज्ञान का भी दुरुपयोग हुआ। आधुनिकता यदि कोई दृष्टि है तो उसे विज्ञान पर आश्रित नही किया जा सकता। विज्ञान घटनाओ की, ब्रह्माड की प्रक्रिया का ही विश्लेषण कर सकता है लेकिन उसका उद्देश्य या प्रयोजन नही बता सकता। मानवीय आचरण के बारे मे भी वह अधिक से अधिक यही बता सकता है कि उसकी प्रक्रिया क्या है या उसे किस तरह निर्देशित किया जा सकता है? लेकिन मानवीय जीवन के प्रयोजन पर उससे कोई प्रकाश नही पडता—बल्कि क्या उसे किसी खास तरह से निर्देशित किया जाय, इसका उत्तर भी विज्ञान के क्षेत्र से बाहर की बात है। भौतिकीय नियम ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हैं उसके प्रयोजन पर नही। यदि वैज्ञानिकता का ही आधुनिकता मान लिया जाय तब तो यही मानना होगा कि मानवीय जीवन का भी कोई प्रयोजन नही है।

वैज्ञानिकता को आधुनिकता मानने का मतलब है मनुष्य को एक ऐसा प्राणी मानना जिसका किसी प्रकार के मूल्यो या नैतिकता से कोई सम्बन्ध नही है। दूसरे शब्दो मे, उसका अर्थ यही हुआ कि आधुनिकता को वैज्ञानिकता के साथ एक कर देने का मतलब है मनुष्य को निरर्थकता के असीम गहरे गड्ढे म धकेल देना। यह बहुत आश्चर्यजनक लगता है कि इसी वैज्ञानिकता के आग्रह के कारण ही मानवीय शोषण और दमन के खिलाफ उग्र सघर्ष का आह्वान करने वाली और मनुष्य को ही सब चीजो की कसौटी मानने वाली समतामूलक विचारधाराएँ भी स्वय मनुष्य को भौतिकी के नियमो की कसौटी पर परखने का प्रयत्न करती रही।

इस दृष्टि से एक समतामूलक समाज की आवश्यकता इसलिये नही है कि मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण और दमन एक अनैतिक बात है बल्कि इसलिये है कि इतिहास की विज्ञानसम्मत दिशा ही वही है—और तब इतिहास की इस प्रक्रिया म शोषण भी एक कालखड म उतना ही स्वाभाविक—बल्कि अनिवाय हो जाता है जितना किसी दूसरे कालखड म समानता। जो होता है वह स्वाभाविक है अत मानवीय शोषण और दमन को लेकर कोई आत्मग्लानि या अपराध-बोध एक थोथी भावुकता है।

स्पष्ट है कि यह विज्ञानाश्रित दृष्टि किन्ही मानवीय या नैतिक आग्रहो को प्रश्रय नही देती और मानवीय आचरण और इतिहास का एक यान्त्रिक

प्रक्रिया की तरह देखती है—वल्कि यन्त्र की तरह उसे नीति निरपेक्ष भी मानती है। नैतिकता का अधिक से अधिक तात्पर्य यदि कुछ हो सकता है तो यही कि मनुष्य अपने को उस प्रक्रिया के साथ जोड़ दे।

लेकिन अपने को इस तरह इतिहास या किसी भी वैज्ञानिक प्रक्रिया के साथ जोड़ देने का क्या अर्थ है जब कि इतिहास या ब्रह्माण्ड का ही कोई आत्यन्तिक प्रयोजन नहीं है? यदि कोई प्रयोजन नहीं है तो इतिहास या ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया क्या व्यर्थ है? यह दुनिया तब क्या एक अर्थहीन संघर्ष है? और यह समझ जाने पर भी इस संघर्ष में रहना क्या एक प्रकार की निरर्थक यन्त्रणा ही नहीं है? पीड़ा, कुण्ठा, सन्त्रास, तनाव आत्महत्या आदि प्रवृत्तियाँ क्या इसी व्यर्थता बोध के विभिन्न प्रकार नहीं हैं?

लेकिन जैसा मैंने कहा कि मुझे लगता है कि यह सब आधुनिकता को वैज्ञानिकता मान लेने और उससे अत्यधिक आशा कर लेने का परिणाम है। विज्ञान मनुष्य का सहायक है, उसका स्वामी नहीं। यदि विज्ञान को ही मनुष्य के आचरण का केन्द्रीय निर्धारक तत्त्व मान लिया जाय तब तो मनुष्य का जीवन ही निरर्थक हो जायेगा। वैयक्तिक मृत्यु एक वैज्ञानिक तथ्य है तो क्या मनुष्य को जितनी जल्दी हो सके मृत्यु के साथ होकर उसकी गति को तीव्र करना चाहिये। भौतिकी के अनुसार ब्रह्माण्ड निरन्तर पतनशील है, तो क्या हम जीवन के सारे विकास को अर्थहीन मान कर उससे विमुख हो जाना चाहिये। न्यूटन के जमाने में तो यह विश्व फिर भी एक प्राकृतिक नियम के अधीन समझा जाता था, लेकिन अब अधुनातन भौतिक विज्ञानी यह स्वीकार करते हैं कि यह विश्व घोर अव्यवस्थित और तर्कहीन है। व्यवस्था केवल एक आभास है। विटगेंस्टाइन जैसे वैज्ञानिक पद्धति में आस्था रखने वाले दार्शनिक भी यह मानते हैं कि पदार्थ विज्ञान अन्तिम या सनातन मूल्यों का प्रदर्शन करने में असमर्थ है। हम अनुभव करते हैं कि सम्पूर्ण सम्भव वैज्ञानिक प्रश्नों के उत्तर दे दिये जायें तो भी हमारी जीवन्त समस्याएँ अस्पृश्य ही रह जाती हैं।'

जेम्स जीस हाइजेनबर्ग, एडिंगटन जैसे भौतिक वैज्ञानिकों के विचारों के विश्लेषण के बाद बर्ट्रेण्ड रसेल कहते हैं 'पार्मेनाइडीज के जमाने से लेकर आज तक विद्वान दार्शनिक लोग यह विश्वास करते रहे कि संसार एक है। मेरे बौद्धिक विश्वासों में से सर्वाधिक आधारभूत विश्वास यह है कि यह मान्यता थोथी और अर्थहीन है। मेरे विचार से यह विश्व विशृंखल है इसमें कोई एकता नहीं है कोई निरन्तरता नहीं है कोई सम्बद्धता और व्यवस्था अथवा ऐसा कोई अन्य गुण नहीं है जिसे अध्यापिकाएँ बहुत पसन्द करती हैं।

भी तो यह है कि पूर्वग्रह और आदत को छोड़कर और शायद कुछ भी ऐसा नहीं है जो इस दृष्टिकोण के पक्ष में प्रस्तुत किया जा सके कि संसार नाम की कोई चीज है भी। व्यवस्था, एकता और निरंतरता तो मनुष्य के आविष्कार हैं ठीक वैसे ही जैसे सूची पत्र और विश्वकोश मनुष्य के आविष्कार हैं। किन्तु मानव आविष्कार कुछ निश्चित सीमाओं के भीतर मानव संसार में प्रचलित और प्रभावी बनाये जा सकते हैं, और अपने दैनिक जीवन के गचानक में हम नितान्त अव्यवस्थापूर्ण अँधेरी रात की कालिमा को भुला सकते हैं जो शायद चारों ओर से हमें घेरे हुए है और इससे हम लाभ ही होगा।'

स्पष्ट है कि इस भौतिकीय प्रक्रिया को और इसलिये ऐतिहासिक प्रक्रिया को भी मनुष्य ही अर्थवान बनाता है—वह स्वयं में अर्थवान नहीं है। अतः मनुष्य स्वयं ही मूल्य और अर्थ का स्रोत है। आधुनिकता वह दृष्टि है जो इस बात को पहचानती है। पारम्परिक धर्म में मनुष्य को एक अर्थ तो दिया गया पर वह आरोपित था और भौतिक जगत के बारे में उसके ज्ञान की असत्यता ने उसके दावों में संदेह पैदा कर दिया—यह जानना असम्भव हो गया कि उसके द्वारा प्रदत्त अलौकिक व्याख्याएँ सही हैं। विज्ञान ने मनुष्य के सम्मुख प्राकृतिक जगत के तथ्यों का रहस्य तो खोला, पर उनमें किसी अर्थ की तलाश नहीं कर सका। अब मनुष्य के पास अपनी चेतना और अनुभूति के सिवा कोई आश्रय नहीं रहा। यह अनुभूति ही ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया को कोई प्रयोजन देती और उसके साथ अपने को जोड़ती है। लेकिन अनुभूति व्यक्तिआश्रित प्रक्रिया है, विषयीसापेक्ष है। तो क्या इतिहास और ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया का प्रयोजन भी विषयीसापेक्ष है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि इतिहास की प्रक्रिया का प्रयोजन भी विषयी है अर्थात् 'आत्मान विद्धि' या अपने को जानने की ओर उन्मुख दृष्टि ही सही मानों में आधुनिक दृष्टि है।

इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाना चाहिये कि आधुनिकता विज्ञानविरोधी दृष्टि है—यह न केवल विज्ञान की अविरोधी है बल्कि उसे अपना मित्र मानती और 'आत्मान विद्धि' के उद्देश्य की पूर्ति में इसकी सहायता भी लेती है—बस इतना ही है कि यह वैज्ञानिकता द्वारा निर्देशित या बाधित नहीं है। 'आत्मान विद्धि' की प्रक्रिया में यह तथ्यों की, भौतिक जगत की अवहेलना नहीं करती बल्कि उसमें से गुजरती हुई आत्म तक पहुँचती है। एक अव्यवस्था को व्यवस्था देकर उसमें 'आत्म' को पहचानती है।

सवाल उठना चाहिये कि इस दृष्टि का सामाजिक स्वरूप क्या हो सकता है? यदि ब्रह्माण्ड और विश्व का प्रयोजन विषयीसापेक्ष है तो हम उस पर कोई

गवसम्मत प्रयोजन आरोपित नही कर सकते और उसके बिना सामाजिक व्यवस्था की उपादेयता संदिग्ध बनी रहती है। ब्रह्माण्ड, इतिहास अथवा जीवन म आत्मान विद्धि' की प्रक्रिया और स्वरूप सब के अलग अलग हो सकते हैं इस स्वीकार करते हुए एक ऐसी उदार व्यवस्था का विकास करना जिसकी सभी के प्रयोजनो से सगति बठ सके निश्चय ही एक दु साध्य और कष्टकर काय है लेकिन आधुनिकता का रास्ता भी तो कोई आसान रास्ता नही है। जा समाजव्यवस्था अपने प्रत्यक सदस्य को अपने प्रयाजन के निर्धारण की स्वतन्त्रता और उसकी पूर्ति के लिए उचित वातावरण और समान अवसर दती है वही सही माना म एक आधुनिक दृष्टिसम्पन्न समाज व्यवस्था हो सकती है। इसके लिए मनुष्य की गरिमा–और सभी मनुष्य समान हैं इसलिए मनुष्य मात्र की गरिमा–का केन्द्रीय महत्त्व देना होगा–पूरे जीवन के परिवृत्त का घेरत हुए।

इस प्रकार सामाजिक सन्दर्भों म आधुनिकता मूलत एक मानवतापरक दृष्टि है जा सृष्टि और इसलिये समाज के केन्द्र म मनुष्य को रखती है। मनुष्य को केन्द्र म रखने का अथ है मनुष्य के विवेक उसकी गरिमा उसकी निणय स्वतन्त्रता और उसकी सजनशीलता को केन्द्र म रखना। यही कारण है कि मनुष्य मात्र की समानता और वैयक्तिक स्वतन्त्रता आधुनिकता की सामाजिक अवधारणा का केन्द्रीय आधार है। इसलिय व सारी विचारधाराएँ आधुनिक नहीं हो सकती हैं जो किसी भी व्यक्ति या वग द्वारा किसी दूसरे व्यक्ति या वग के शोषण दमन और अवमानना की मुखालफत करती और एक ऐसी व्यवस्था का अनिवाय मानती हैं जिसम मनुष्य मात्र की स्वतन्त्र चेतना और सजनशीलता का बहुआयामी विकास सम्भव हो। इसीलिये वे सारी विचार धाराएँ या व्यवस्थाएँ आधुनिकता की विकृतियाँ ही मानी जा सकती है जो एक उज्ज्वल भविष्य के नाम पर मनुष्य की वयक्तिक स्वतन्त्रता और सजनशीलता का किसी भी प्रकार कुंठित करती हो। इसलिय समकालीन पूँजीवादी लोकतन्त्र और सवसत्तावादी समाजवाद दोनो ही बुनियादी अर्थों म आधुनिक नही कहे जा सकत क्योंकि दोनो परोक्ष या प्रत्यक्ष तरीकों से स्वतन्त्र सजनचेतना का कहीं न कहीं दमन या जडीकरण करते है।

यह अस्वाभाविक नही है कि समकालीन साहित्य का एक बडा श्रेष्ठ अश पूँजीवादी लोकतन्त्र, सवसत्तावाद सवग्रासी प्रौद्योगिकी या भौतिकीय प्रक्रिया की निरथकता के बोध स उत्पन्न यन्त्रणा का अनुभव करता है–यद्यपि इस अनुभव के रूप इतने विविध है कि औसत पाठक के लिए उन्हें एक ही प्रवृत्ति के रूप म पहचानना मुश्किल हो जाता है। यन्त्रणा, त्रास और निराशा इस

आधुनिक दृष्टि से परितोष न हो सकने की पीड़ा की ही अभिव्यक्ति हैं, वे भी प्रकारान्तर से इसी दृष्टि की वांछनीयता का प्रकट करती हैं।

स्वतन्त्रता और समानता का एक साथ अर्जित कर लेना बहुत से लोगों को एक कल्पना लगती है—लेकिन विश्वगत तथ्यों के संसार में सारी व्यवस्था भी अन्तत एक कल्पना ही तो है। आधुनिक सामाजिक दृष्टि का अर्थ 'कम्युनिस्ट मेनीफेस्टो' की शब्दावली में 'एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था का आदर्श है जिसमें प्रत्येक का स्वतन्त्र विकास ही सबके स्वतन्त्र विकास की अनिवार्य शर्त हो।' निश्चय ही इसके लिए अनुदार और अमानवीय शक्तियों के विभिन्न रूपों के खिलाफ विभिन्न स्तरों पर विभिन्न तरीकों से संघर्ष करते रहना होगा—लेकिन इस संघर्ष में जरूरी है उस सुन्दर को पहचानते रहना जिसके लिए यह सारा संघर्ष है। यह ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि संघर्ष की प्रक्रिया ही कहीं अमानवीय न हो जाये। अन्यथा आधुनिकता का भटकाव पूरी मानवता को एक ऐसे अन्तहीन अँधेरे जंगल में ले जाकर छोड़ दे सकता है जहाँ से वापसी की कोशिश में वह काँटों पत्थरों और फिसले और हिंसक जानवरों से टकराकर नष्ट होती रहे।

भारतीय परम्परा सामाजिक प्रासंगिकता

परम्परा को व्याख्यायित करते हुए एक दार्शनिक इतिहासकार ने कहा है कि 'अतीत से जो उत्तराधिकार हमें मिला है वह एक सोचने की विधि है, न कि एक नियम-संहिता। मैं इस 'सोचने की विधि' को व्यापक सन्दर्भ में रखकर समझना और उन संवेदनाओं को भी इसमें शामिल करना चाहता हूँ जिन्हें संस्कार कहा जाता है। संस्कार किसी आचार-व्यवहार के रूप में नहीं मूल्य संवेदना के रूप में क्योंकि परम्परा अनंत एवं सनातन मूल्यचेतना है। भारतीय सन्दर्भ में तो यह बात और भी सच है क्योंकि भारतीय चेतना सदैव रूप से अधिक महत्त्व उस अरूप को देती आयी है जो सभी रूपों में निराता है।' जो परम्परा मानवीय देह को भी एक नश्वर अभिव्यक्ति मानती हुई आत्मा को सनातन मानती हो, उसे वर्ण जाति सम्प्रदाय और भूगोल के स्थूल संस्थागत रूपों पर आश्रित कर देखना एक बुनियादी भ्रांति है जिसका शिकार परम्परा के अधिकांश व्याख्याकार होते आये हैं। उनकी यह भ्रान्त दृष्टि ही परम्परा को एक अतीत की तरह प्रस्तुत करती है और अतीत की कुछ संस्थाओं को वर्तमान में अनुपयोगी या अप्रभावी पाकर या तो परम्परा या वर्तमान और कभी कभी दोनों के प्रति खीज से भर उठती है। परम्परा का अर्थ अतीत के चौखटे में वर्तमान को जड़ना नहीं है और न ही वह वर्तमान की खिड़की से अतीत की ओर मुग्ध भाव से निहारना है। परम्परा की तलाश वर्तमान की दृष्टि से अतीत का नवीकरण नहीं है। परम्परा का अर्थ है बदलती हुई परिस्थितियों की चुनौती के सम्मुख एक सनातन जीवनदृष्टि के अनभिव्यक्त आयामों का उद्घाटन।

एक सनातन मूल्यचेतना के रूप में भारतीय चेतना के समाजदर्शन का निरूपण किस प्रकार होता है? भारतीय चेतना के लिए समाज शब्द का अर्थ ही विवेकशील मनुष्यों का समुदाय है। संस्कृत में एक शब्द है 'समज' और दूसरा है 'समाज'। 'समज' का एक अर्थ 'पशुओं का समुदाय' और दूसरा अर्थ 'मूर्खों का समुदाय' है। समाज को 'विवेकशील मनुष्यों का समुदाय' माना गया है। स्पष्ट है कि भारतीय दृष्टि समाज संरचना का आधार उस मानवीय विवेक को मानती है जो एक मनुष्य को दूसरे से जोड़ता है। यह विवेक मनुष्य

और मनुष्य के बीच के अनिवार्य रिश्ते और उनमें उद्भूत उत्तरदायित्वों की पहचान है—बल्कि इसका दायरा मनुष्य से आगे बढ़कर मानवेतर सृष्टि तक फैल जाता है क्योंकि हिरियन्ना के शब्दों में—'जिन प्राणियों में नैतिक चेतना का अभाव है, उनके चाहे कोई कर्तव्य न हों पर इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके प्रति भी किसी का कोई कर्तव्य नहीं है। व्यक्ति की स्वार्थ परायणता के अतिरिक्त एक ऐसी भी चीज है जिसे जाति की स्वार्थ परायणता कहा जा सकता है और जो अनिवार्यतः इस विश्वास को जन्म देती है कि अवमानवीय सृष्टि का मनुष्य के हित के लिए दोहन किया जा सकता है। यदि मनुष्य को सचमुच मुक्त होना है तो इसका भी त्याग करना होगा और वह ऐसा केवल तभी कर सकेगा जब वह मानवकेन्द्रित दृष्टिकोण से ऊपर उठ जायेगा तथा गीता के शब्दों में—विद्या और विनय से सम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, श्वान तथा श्वान का मांस खाने वाला चांडाल, सबके प्रति समदर्शी हो सकेगा।'

इस प्रकार भारतीय सामाजिकता केवल मानवकेन्द्रित या मात्र मानवीय एकता पर आधारित नहीं बल्कि सम्पूर्ण सृष्टि की एकता पर आधारित है। जब हम मनुष्य को शेष सृष्टि से पृथक मानने से शुरू करते हैं तो यह पृथकतावाद हमें एक मानवसमाज को दूसरे मानवसमाज से, एक सम्प्रदाय को दूसरे सम्प्रदाय से, एक प्रदेश या भाषा के मानवों को अन्य प्रदेश या भाषा के मानवों से, एक जाति को दूसरी जाति से तथा अन्ततः एक मनुष्य को दूसरे मनुष्यों से अलग मानने की ओर ले जाता है और पृथकता का यह बोध अन्ततः मानवीय सम्बन्धों का आधार शक्ति या हिंसा को बना देता है क्योंकि पृथकता के बोध पर आधारित तन्त्र पद्धति की संरचना अपने समूह की पृथक पहचान और उसके हितों की रक्षा के प्रयोजन से ही होती है और इस तरह की दो संरचनाओं के बीच यदि कभी कोई समन्वय होता भी है तो उसका आधार समान स्वार्थ ही होते हैं कोई तात्त्विक एकता नहीं। इसलिए स्वार्थों की टकराहट का अन्तिम फैसला हिंसा के आधार पर ही होना है जो मनुष्य समाज को अन्ततः पशुप्रवृत्ति की ओर ले जाती है।

लेकिन जब सामाजिकता की हमारी भावना का आधार सम्पूर्ण सृष्टि की एकता की अनुभूति हो तो हमारी तन्त्रप्रणाली और मूल्यचेतना बिल्कुल भिन्न होगी। यह दृष्टि मानव की अवमानना नहीं करती बल्कि उस श्रेष्ठ नैतिक चेतना से युक्त मानने के कारण उस पर बड़ा उत्तरदायित्व डालती है। यदि सम्पूर्ण सृष्टि में मनुष्य को कुछ विशेष हैसियत प्राप्त है तो उससे कुछ विशेष नैतिक दायित्व भी जुड़े हैं—क्योंकि भारतीय दृष्टि हैसियत को अधिकारों से नहीं उन कर्तव्यों से आंकती है जिनका दायित्व किसी व्यक्ति, वर्ग या समाज

पर ह। सम्पूण सृष्टि की एकता की यह सकल्पना और अनुभव भारतीय जीवनदृष्टि का ही नही, उस भावना का भी आधार है जिसे आध्यात्मिकता कहा जाता है। 'स्व' का बोध जीवन का प्रयोजन है पर यह 'स्व' समष्टि से पृथक नही है, अत इसकी पहचान मे समष्टि और 'स्व' के अनिवार्य रिश्ते का बोध भी शामिल है। यह पहचान केवल विचारगत या सूचनात्मक नही बल्कि सवेदनात्मक और अनुभवगम्य है अत जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे इसका प्रतिफलन हुए बिना इसका वास्तविक बोध सम्भव नही है।

लेकिन यदि हम फिलहाल किसी आध्यात्मिक विचार मे न पडे और आत्मा परमात्मा की शब्दावली से परहेज करना चाह तो भी भौतिकवादी दृष्टि भी सृष्टि की एकता के सिद्धात का ही पुष्ट करती प्रतीत होती है। 'सृष्टि एकतत्त्वात्मक है इस धारणा की पुष्टि आधुनिक विज्ञान भी करता है। प्रकृतिवाद, कारण कायआश्रित निश्चयवाद और एकतत्त्ववाद वैज्ञानिक दृष्टिकोण के स्वीकृत सिद्धात है। इसी एकतत्त्ववाद के आधार पर मार्क्सवाद के बरक्स मानवेन्द्रनाथ राय जसे विचारक वज्ञानिक मानववाद का दशन रखत हैं तथा काय कारणआश्रित प्रकृतिवाद स उपजा होन के कारण मनुष्य को एक विवेक सम्पन्न प्राणी मानते और सभी मानवीय सम्बन्धा म इस विवेक के प्रतिफलन को ही नतिकता कहत ह।

लेकिन सम्पूण सृष्टि की तात्त्विक एकता का यह विचार मानवीय कम की प्रेरणा तभी बनता है जब वह मनुष्य की सवेदना की एक सहज क्रिया या सस्कार बन जाय। जब यह विज्ञानआधारित तात्त्विक एकता मानवीय सवेदना की सहज क्रिया या मानवीय सस्कार बन जाती है तो वह वस्तुत एक आध्यात्मिक आयाम ग्रहण कर लेती है चाह उसके लिए हम आत्मा-परमात्मा की शब्दावली का इस्तमाल न भी करे। दुनिया के सभी रहस्य-वादियो म यदि कोई एक बात समान रूप स पायी जाती है तो वह है सम्पूण सृष्टि की एकतात्त्विकता का अनुभव—चाह व पुनजन्म, आत्मा के अमरत्व या परमात्मा म आत्मा के विलीन होन के सिद्धान्तो पर एक मत न भी रखत हो।

इसलिए भौतिकवादी आधार पर देखा जाय या आध्यात्मिक आधार पर भारतीय सामाजिकता सृष्टि की एकतात्त्विकता के बोध स उपजती ह और सभी मानवीय सम्बन्धो म इसी बोध के प्रतिफलन का ही सामाजिक जीवन का प्रयोजन स्वीकार करती है। यही आध्यात्मिकता का सामाजिक पहलू ह।

जाहिर है कि इस प्रकार स विचार करन पर सम्पूण सामाजिक व्यवस्था, सस्थाओ और रिश्तो का आधार अहिंसा हो जाती है—स्थूल नही अपितु सूक्ष्म

और गुरुतर अर्थों म । हम जानते हैं कि मनुष्य म पशुत्व भी है और स्वार्थपरता भी और स्वार्थों की टकराहट भी अवश्यम्भावी है। इसलिए जब तक मनुष्य अहिंसा को एक बुनियादी मानवमूल्य के रूप म स्वीकार नहीं कर लेता तब तक विनाशकारी संघर्ष और शोषण दमन से कोई बचाव नहीं है। भारतीय परम्परा इस बात को पहचानती है कि सृष्टि की एकता की अनुभूति का प्रतिफलन सृष्टि मात्र के प्रति अहिंसा के व्यवहार म ही हो सकता है क्योंकि स्वार्थों की टकराहट भी तब घृणा और प्रतिशोध को नहीं विकसित होने देगी जो हिंसा के प्रेरक कारण हैं। भारतीय परम्परा इस बात को पहचानती है कि अहिंसा ही सर्वोच्च धर्म, सर्वोच्च तप और सर्वोच्च सत्य है और इसी से बाकी सब गुणों का जन्म होता है। सामाजिक व्यवस्था के केन्द्रीय आधार के रूप म अहिंसा को स्वीकार करने का अर्थ है एक शोषणविहीन समतामूलक समाज की स्थापना जिसमें न केवल रंग, जाति, लिंग, भाषा, सम्प्रदाय और राजनीतिक आर्थिक ताकत के आधार पर अन्य के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार न किया जा सके बल्कि प्रत्येक मनुष्य की अन्तर्निहित सर्जनात्मकता को अभिव्यक्ति के तमाम अवसर मिल सकें।

अहिंसा के सिद्धान्त को सामाजिक व्यवस्था के आधार रूप म स्वीकार करने का तात्पर्य सामाजिक अन्याय के खिलाफ अप्रतिरोध नहीं है। भारतीय परम्परा म अहिंसा का अर्थ सबके प्रति प्रेममय व्यवहार है–शत्रु के प्रति भी। लेकिन शत्रु के विरुद्ध बलप्रयोग की मनाही नहीं है–यदि हम बिना घृणा के बलप्रयोग कर सकें। जैसाकि सर्वपल्ली राधाकृष्णन् का कथन है–'कई बार प्रेम की भावना के कारण भी बुराई का प्रतिरोध करने की आवश्यकता पड़ती है। हम लड़ते हैं किन्तु आन्तरिक शान्ति से भरे हुए।' हमें चिकित्सक और डाकू की हिंसा म अन्तर करना होगा। अनुष्ठान पर्व म कहा गया है 'चिकित्सकश्च दु:खानि जनयन् हितमाप्नुयात्।' लेकिन इसका तात्पर्य हिंसा को हर स्थिति म उचित मानना नहीं है। आदर्श तो पूर्ण अहिंसा ही है–हिंसा का केवल आपद्धर्म के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है और वह भी तब जब हमारा हृदय आन्तरिक शान्ति से भरा और प्रेममय हो। घृणा और प्रतिशोध की भावना पर आधारित हिंसा किसी भी तरह स्वीकार्य नहीं। अधिकांश क्रान्तियाँ प्रतिक्रान्तियों में इसीलिए बदल जाती हैं कि वे उत्कृष्टतर परिवर्तन की भावना से कम और घृणा व प्रतिशोध की भावना से अधिक प्रेरित होती हैं।

हिंसा 'स्व' के सकुचन से पैदा होती है जबकि अहिंसा का तात्पर्य है 'स्व' की सार्वभौमिक व्याप्ति। भारतीय परम्परा म 'स्व' की पहचान को ही जीवन का प्रयोजन माना गया है। लेकिन इस 'स्व' या अस्मिता के कई वृत्त हैं जिनका

विस्तार अपनी देह से लेकर अनन्त सृष्टि तक है। मैं एक नाम से जानी जा रही देह हूँ मैं एक परिवार का सदस्य हूँ मैं एक जाति हूँ, मैं एक अध्यापक, मजदूर, व्यापारी, लेखक या कुछ और हूँ, मैं एक प्रदेशविशेष का निवासी हूँ, मैं एक राष्ट्रविशेष का निवासी हूँ, मैं एक सम्प्रदायविशेष का अनुयायी या दलविशेष का कार्यकर्ता हूँ आदि सभी मान्यताएँ अस्मिता के छोटे बड़े घेरे हैं जो अनन्त सृष्टि के साथ मेरी एकता की धारणा तक फैलते हैं। सभी सामाजिक असमानताएँ, विद्वेष और तनाव अपनी अस्मिता को किसी न किसी घेरे मे बाँधना है। अनन्त सृष्टि के साथ एकता का अनुभव करते हुए भी मैं देह तो रहता हूँ लेकिन तब देह मेरी अस्मिता के उन्नयन का साधन बनती है जबकि केवल देह होना मेरी अस्मिता की वास्तविक सम्भावनाओं का दमन करना है। जाति, लिंग सम्प्रदाय और अन्य ऐसी सभी सामाजिक पहचानें यदि मेरे 'स्व' का संकुचन करती हैं तो उन्हें न्यायपूर्ण नहीं माना जा सकता क्योंकि उनसे जो सामाजिक व्यवस्था विकसित होगी वह अनिवार्यतया हिंसक होगी और जीवन के एक विकृत दृष्टिकोण का विकास करेगी और हम प्रकृति से संस्कृति की ओर बढ़ने की बजाय विकृति की ओर गिर रहे होंगे। आज जिस समाज व्यवस्था में हम रह रहे हैं वह स्पष्टतया एक विकृत व्यवस्था है क्योंकि वह हमें किसी न किसी छोटे घेरे में बाँध देने का प्रयास करती है—वह घेरा जाति उपजाति का भी हो सकता है और रंग, सम्प्रदाय, दल प्रदेश या राष्ट्र का भी। पराशर के हवाले से डा राधाकृष्णन् कहते हैं कि यह ठीक है कि आत्मा के सत्य सनातन हैं पर नियम युग युग में बदलते रहते हैं। हमारी ललित संस्थाएँ नष्ट हो जाती हैं। वे अपने समय में धूमधाम से रहती हैं और उसके बाद समाप्त हो जाती हैं। वे काल की उपज होती हैं और काल की ही ग्रास बन जाती हैं। परन्तु हम धर्म को इन संस्थाओं के किसी भी समूह के साथ एक या अभिन्न नहीं समझ सकते। धर्म इसलिए बना रहता है कि इसकी जड़ें मानवीय प्रकृति में हैं और यह अपने किसी भी ऐतिहासिक मूर्त रूप के समाप्त हो जाने के बाद भी बचा रहेगा।